आत्मानुभवी द्रव्यानुयोगी

उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्रजी म द्वारा विरचित

अध्यात्म-प्रबोध

अपरनाम

देशनासार

अनुवादिका

शान्तरसनिमग्ना स्व प्र श्री ज्ञानश्री जी म सा की शिष्या

आगमज्योति प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी म सा

प्रकाशक

"श्री-पुण्य-सुवर्ण-ज्ञानपीठ"

जयपुर

वि सं २०४६ वैशाख पूर्णिमा

सम्पादिका
'दर्शनाचार्य आर्य्या शशिप्रभाश्री जी
आर्य्या प्रियदर्शना श्री जी

द्रव्य सहायक
स्व. श्री सुजानमलजी सा० दुगड़ के सुपुत्र
श्री सुभाषचन्दजी सा. दुगड़ (फतेहपुर)

प्राप्तिस्थान
श्री-पुण्य-सुवर्ण-ज्ञानपीठ
विचक्षण भवन
के. जी. बी. का रास्ता जयपुर-३०२००३

जैन युवा परिषद्
३९७८-एम. एस. बी. का रास्ता
जयपुर-३०२००३.

●

मुद्रण
राजेश सुराना के निर्देशन में
दिवाकर प्रकाशन
A-7, अवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड आगरा २८२००२
दूरभाष : ६८३२८

मूल्य-१०/-रुपया सिर्फ

समर्पण



आगम ज्योति प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी म.

प्रकाशकीय

श्री सुविहित खरतरगच्छीय जैन परम्परा में द्रव्यानुयोगी श्रीमद् देवचन्द्रजी म का स्थान सर्वोपरि है, वे एक सर्वमान्य आत्मार्थी सत्पुरुष अतिशयज्ञानी आत्मदृष्टा और द्रव्यानुयोग के महान् विद्वान थे । मुगल सम्राट अकबर को प्रतिबोध देने वाले चतुर्थ दादा गुरु युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि महाराज की विद्वद्शिष्य परम्परा में समदर्शी महाविद्वान व निर्मलचारित्रनिष्ठ मुनिराज थे । सभी गच्छों के प्रति आत्मीयता और समभाव होने से आपके पास तपागच्छीय मुनि श्री उत्तमविजय जी म पद्मविजय जी म आदि अनेक मुनिजन आगमों का अध्ययन करने के लिए आते थे, और आप बिना किसी भेदभाव के उन्हें ज्ञानदान दिया करते थे ।

श्रीमद् के द्वारा रचित सभी ग्रन्थों को प्रकाशित करने का प्रथम श्रेय योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागर सूरिजी म० को है जिन्होंने श्रीमद देवचन्द्र जी म की सद्गुणों और विद्वतापूर्ण कृतियों से प्रभावित होकर उन पूज्येश्वर के प्राप्त सभी साहित्य को अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल द्वारा दो भागों में प्रकाशित करवाकर मुमुक्षजनों पर बड़ा भारी उपकार किया ।

तत्पश्चात् तो चौबीसी, बीसी, अतीत चौबीसी अध्यात्म-गीता, अष्टप्रवचनमाता, पंचभावना, प्रभंजना, गजसुकुमाल आदि की सज्झायें इत्यादि अनेक कृतियाँ नाहटा जी द्वारा एवं वर्तमान चौबीसी तथा स्नात्रपूजा का अनुवाद जो कि जरगड जी द्वारा किया गया है वह भी जिनदत्तसूरिसेवा संघ द्वारा प्रकाशित हो चुके है । श्रीमद् देवचन्द्र चौबीसी का स्वोपज्ञ बालावबोध का परिमार्जित साहित्यिक भाषा में हिन्दी अनुवाद आगम ज्योति प्रवर्तिनी महोदया विदुषीवर्य्या श्री सज्जनश्री जी म सा के द्वारा अनुदित हो चुका है जिसका प्रकाशन प्राकृत भारती की ओर से हो रहा है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्म प्रबोध अपरनाम देशनासार का अनुवाद भी परम श्रद्धेया पूज्या प्रवर्तिनी महोदया श्री सज्जन श्री जी. म. सा. के द्वारा बहुत ही परिमार्जित परिष्कृत व प्राञ्जलभाषा में किया गया है जिसका प्रथम प्रकाशन नाहटा ग्रन्थमाला की ओर से प्रकाशित हुआ था किन्तु स्वाध्याय प्रेमियों की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुये पूज्य आचार्य श्री कान्तिसागर सूरीश्वरजी म. सा. के शिष्य विद्वद्वर गणिवर्य्य श्री मणिप्रभसागर जी म. सा. एव प्रधान पद विभूषिता पू. श्री अविचलश्री जी. म. सा. की सान्निध्यता मे हो रहे पू. प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी. म. सा. के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष में यह द्वितीय सस्करण पुण्य-सुवर्ण-ज्ञानपीठ जयपुर के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है ।

इसी के साथ "द्रव्यप्रकाश" (हिन्दी) का हिन्दी अनुवाद भी जिसमें षद्द्रव्यों का विशद विवेचन है और जो पूज्या प्र. श्री सज्जन श्री जी. म. सा. के द्वारा सुन्दर व्यवस्थित व साहित्यिक भाषा में लिखा गया है उसे भी इसी पुस्तक के साथ सलग्न कर रहे है ।

इस प्रकाशन मे फतेहपुर निवासी स्व. सेठ श्रीमान् सुजानमलजी सा. दुगड़ की स्मृति मे उनकी धर्मपत्नी धर्मनिष्ठा श्रीमती किरणदेवी तथा पुत्र श्री सुभाषचन्द जी सा. दुगड़ एव पुत्रवधु श्रीमती मजुलाजी आदि समस्त दुगड परिवार ने अपना प्रशंसनीय आर्थिक सहयोग प्रदान कर ज्ञान प्रसार का अपूर्व लाभ लिया है ।

आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है—

पाठकगण इसके पठन-पाठन एव स्वाध्याय से आत्माभिमुखी बन आत्मानुभूति करेंगे; और ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए हमे उत्साही करेंगे ।

श्री पुण्य-सुवर्ण ज्ञानपीठ जयपुर

दो शब्द

अनादि-कालीन संसार षड्द्रव्यों का समूह है । इसी को लोक नाम से अभिहित किया जाता है । धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्य है । चतुर्दश रज्जु-प्रमाण लोक में छ हो द्रव्य भरे पडे है । लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं, जिनमें इन द्रव्यों का अस्तित्व न हो । धर्म-अधर्म आकाश, काल और पुद्गल-जड है । मात्र जीव चेतन द्रव्य है । जीव दो प्रकार के होते है—सिद्ध व संसारी । जो कर्म पुद्गल से सर्वथा मुक्त हो गये है, वे सिद्ध है । कर्मों से आबद्ध जीव संसारी कहलाते है ।

संसार भ्रमण करते करते, कर्मो को भोगते-भोगते जब कर्मभार अत्यन्त हल्का हो जाता है तब जीव को मानव शरीर, आर्यक्षेत्र आदि दश-दुर्लभ दशाएँ प्राप्त होती है । संसारी जीवों की व स्वयं की भी शारीरिक, मानसिक बौद्धिक आदि विभिन्नताएँ, विविधताएँ और विचित्रताएँ जिज्ञासा की जननी है । विचार-शील मानव जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होने पर बाल्यावस्था में माता-पिता द्वारा, किशोरावस्था में शिक्षकों से, तारुण्य में समान वयस्कों से स्वल्प समाधान पाता है । पूर्ण समाधान तो सर्वज्ञ तीर्थंकर देवों से ही प्राप्त होता है, किन्तु सर्वज्ञों का सद्भाव सदा नहीं रहता । भरत ऐरवत क्षेत्र में तो एक कोडाकोडी सागरोपम से भी कम समय सर्वज्ञ विद्यमान रहते है । तदनन्तर बहुश्रुत आचार्यादि ही तीर्थंकर देवों के उपदेशों को प्रचारित कर भव्यजनों का उपकार करते है । उनकी जिज्ञासाओं का समाधान भी करते है और मार्गदर्शन करके साधना की प्रेरणा करते हुये मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ कर देते है, तथा साधकदशा में अपायभूत-कषाय, प्रमाद आदि से प्रभावित न हो, इस आशय से साधक को सदैव सारणा, वारणा, प्रेरणा, प्रतिप्रेरणा इत्यादि देते रहते है । स्वयं भी उसी पथ के पथिक होने से और शासनसंचालक व संरक्षक होने के कारण श्रुतसाधना-भगवद्वाणी को तत्कालीन भाषाओं में युगानुकूल वातावरण के योग्य विधाओं में सन्दृब्ध

करते रहते हैं । भगवान् महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् इन ढाई हजार वर्षों मे निर्मित जैन साहित्य इसका साक्षी है । अधिकाश काल का भोग बन जाने पर भी अभी तक यथेष्ट रूप में काफी साहित्य समुपलब्ध है ।

मनीषी जैनाचार्यों ने प्रायः जैन वाङ्मय का निर्माण लोक भोग्य भाषा मे किया है । चार अनुयोग—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग मे सारा जैन वाङ्मय विभक्त है । इनके अतिरिक्त व्यावहारिक और व्याकरण, कोष, न्याय, अलकार आदि की रचना मे भी वे पश्चात्पद नहीं रहे । मूल आगमों पर निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियाँ, वृत्तियाँ आदि विपुल प्रमाण मे निर्मित्त कर शास्त्रों का रहस्य प्रस्फुटित किया, एव मन्दबुद्धिजनों के हितार्थ आगमों के रहस्य को हृदयङ्गम कराने वाले प्रकरणादि ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने महद् उपकार किया है ।

इन्हीं महा-मनीषियों की परम्परा मे श्रीमद् देवचन्द्र गणिवर्य का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है । द्रव्यानुयोग के अनन्त ज्ञाता के रूप मे उस समय ये विख्यात थे । इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है । इनके विशाल साहित्य को सर्वप्रथम अध्यात्मयोगनिष्ट स्व. आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि महाराज ने सग्रहीत कर दो भागो मे प्रकाशित करवाया था । उसके बाद तो इनके ग्रन्थ आगमसार, अतीत चौवीसी, स्तवन, वीशी स्तवन, अष्ट प्रवचन माता की सज्झाये, अनेक अन्य सज्झायें, अध्यात्म-गीता, स्नात्रपूजा सार्थ आदि कई ग्रन्थ प्रकाश मे आ चुके हैं इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं और कई प्रकाशित होने वाले हैं ।

प्रस्तुत अध्यात्म-प्रबोध अपरनाम देशनासार अद्यापि पर्यन्त अप्रकाशित ही था । उपयुर्क्त प्रकाशनों मे यह मुद्रित नहीं हो सकी थी । पुरातत्त्व के अनुसन्धाता सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचन्द जी नाहटा को इसकी सम्प्राप्ति श्री हित्सत्क-ज्ञान भण्डार के देखते देखते आकस्मिक रूप से हो गयी ।

विक्रम सं २०२५ का मेरा चातुर्मास बीकानेर मे हुआ । श्री नाहटा जी जब भी दर्शनार्थ आते थे, हम लोगों को कुछ न कुछ आध्यात्मिक प्रेरणा देते रहते थे और नवीन रचना न कर सकें तो अनुवाद ही करिये । ऐसा आग्रह करते रहते थे । देशनासार लेकर वे मेरे पास आये और इस पर विवेचन लिखने का अनुरोध किया । मैंने ग्रन्थ को देखकर अनुवादमात्र करने की इच्छा प्रकट की, यद्यपि द्रव्यानुयोग के विषय मे मेरी अभिरुचि बाल्यावस्था से ही रही है, फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत-संस्कृत मे है और स्वोपज्ञ वृत्ति सहित है, देखकर मै आश्वस्त हुयी । व्यवस्ततावश इसके अनुवाद का कार्य बीकानेर व तदनन्तर फलोधी चातुर्मास मे नही हो सका । २०२७ के दिल्ली चातुर्मास मे यह कार्य पूर्ण हो सका । पाण्डुलिपि जो श्री नाहटा महोदय करवा के मेरे पास लाये थे उसमे काफी अशुद्धियाँ थी, फिर भी यथा-साध्य शुद्ध करके मैने भावानुवाद करने का प्रयास किया है ।

मेरा यह प्रथम अनुवाद कार्य है । सर्वज्ञ आगम और ग्रन्थकार पूज्यवर के आशय के विरुद्ध कहीं भी कुछ लिख दिया हो अथवा समझ में न आने के कारण गल्ती रह गयी हो तो मिथ्यादुष्कृत देती हूँ । विद्वज्जन सुधार कर पढ़े और मुझे भी अवगत करने की कृपा करे ।

अध्यात्मप्रेमी पाठक पाठिकाएँ और स्वाध्याय करने वाले मुमुक्षुजन इस कृति से लाभ उठावे, आत्मबोध प्राप्त करे, इसी शुभाकांक्षा के साथ विरमित होती हूँ ।

वीर शासन सेविका
सज्जनश्री

पादलिप्तपुर
अश्विनवदि ५ सोम वि. २०३३

अनुक्रमणिका

आंत्मानुभवी द्रव्यानुयोगी
उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्रजी म द्वारा विरचित

अध्यात्म-प्रबोध

अपरनाम

देशनासार

अनुवादिका

शान्तरसनिमग्ना स्व प्र श्री ज्ञानश्री जी म सा की शिष्या
आगमज्योति प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी म सा

• ॐ नमस्सिद्धम् •

गणिवर्य श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज विरचित

अध्यात्म-प्रबोध

अपरनाम

देशनासार

(स्वोपज्ञवृत्तियुत)

प्रणम्य श्रीमहावीरं सिद्धार्थकुलभास्करम् ।
दुर्वादिद्विपविद्धंसकरणे पञ्चाननोपमम् ।१।
अनेकान्तानन्तगुणं निर्बाधं पारिणामिकम् ।
वस्तुतत्वमनादीनं स्वात्मधर्ममहं श्रये ।२।
श्रीदीपचन्द्र पाठक चरणाम्बुजसेवनाच्च यल्लब्धम् ।
गणधर रचित सूत्रं तदनुसारेण वक्ष्यामि ।३।
स्वात्मोपकृतिहेतो र्यथार्थं सद्धर्मदेशनामूलम् ।
संसारार्णवतारं करोम्यहं देशनासारम् ।४।

अर्थ-सिद्धार्थनृपति के कुल को प्रकाशित करने वाले सूर्य, और विभिन्न मतों का अभिनिवेश रखने से कुयुक्तियों व कुतर्कों से वाद करने वाले, दुर्वादिरूप गजों को विध्वंस करने के लिए सिंह-तुल्य चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर प्रभु को नमस्कार करके अनेकान्तस्वरूप अनन्तगुणमय बाधारहित पारिणामिक-आत्मा में ही परिणत रहने वाला आत्मा का अनादिकालीन वास्तविक तत्वरूप अपने आत्म-धर्म का मैं आश्रय लेता हूँ ।

मेरे गुरुवर्य पाठकप्रवर श्रीमद् दीपचन्द्र महोदय के चरणकमलों की सेवा से जो गणधररचित सूत्रो का सार मुझे सम्प्राप्त हुआ है, उसी को सूत्रों का अनुसरण करता हुआ कहूँगा । नकि स्वमतिकल्पित ! (इस वाक्य से श्रीमद् की शास्त्रों के प्रति दृढ व अनन्य श्रद्धा अभिव्यक्त होती है ।)

यथार्थ सद्धर्मदेशना जिसके मूल मे है और जो ससार समुद्र से तारने वाला है, ऐसा 'देशनासार' नामक ग्रन्थ मै अपने स्वय के उपकार के लिए बनाता हूँ ।

॥ जीव स्वरूप नाम प्रथम अधिकार ॥

इस जगत मे अनादिकाल से भ्रमण करते हुए प्राणी को स्वात्मनिष्ठ चित्स्वभाव परिणमनरूप आत्मा की स्वपरिणति का प्राग्भाव रूप कि जिसके प्राप्त होने पर द्रव्यसाधन-बाह्यसाधन मनुष्यभवादि व्रत, नियम, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा जप, तप आदि भावसाधन सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है, क्योकि जब तक वह प्राप्त नही होता सारे ही साधन केवल भव भ्रमण के हेतु ही रहते है । जैसाकि आचाराङ्ग सूत्रवृत्ति मे कहा है –

'फलमेव गुण फलगुण, फल च क्रियाया भवति, तस्याश्च क्रियाया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररहिताया ऐहिकामुष्मिकार्थ प्रवृत्ताया अनात्यन्तिकाया वैकान्तिको भवेत्, फलगुणोऽप्यगुणो भवति, सम्यग्-दर्शनज्ञानचारित्र-सहिताया क्रियायास्त्वैकान्तिकात्यन्तिकानाबाधसुखाख्य — सिद्धिफल-गुणोऽवाप्यते । एतदुक्त भवति-सम्यग् दर्शनादिकैव क्रिया सिद्धिफलगुणेन फलवती, अपरा तु सासारिक सुखफलाध्यारोपात् निष्फला, इत्यर्थ ।"

अर्थात् फल ही गुण है जिसका उसे फलगुण कहते है । फल क्रिया का होता है, जो क्रिया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रयुक्त नहीं है और केवल ऐहलौकिक या पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिए की जाती

है, उसका फल अत्यन्त व एकान्त सुखदाता न होने से वह गुण भी अगुणरूप है। जो क्रिया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रपूर्वक होती है, उसका फल अत्यन्त और एकान्त अनाबाध सुख स्वरूप सिद्धि होता है। अत वही सम्यक्क्रिया वास्तविक फल-गुणवाली है। साराश कि सम्यग्दर्शनादि सहित क्रिया ही वास्तव में फलरूप गुणवती-सफल है और इनसे सम्यग्दर्शनादि से रहित तप-सयमादि क्रिया सासारिक, भौतिक सुखों का अध्यारोप होने से निष्फल है। ऐसा आगम वाक्य है। अत अनाबाध-सुख की प्राप्ति के लिए आत्मा का वास्तविक स्वभावरूप ही धर्म है। उसे प्रकट करने का ही प्रयत्न करना चाहिये और वही प्राग्भाव रूप क्रिया है। वह प्राग्भाव स्वरूप के निश्चय, भासन और रमण से ही होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात श्रद्धा के द्वारा निश्चय होता है, सम्यग्ज्ञान से आत्म-स्वरूप भासता है, और सम्यग्चारित्र ही आत्मरमणता है। इन्ही तीन को रत्नत्रय कहते है। इन्ही के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। स्वरूप का अभ्यास करने वालो को सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव करने वाले अर्हत् और सिद्ध तथा स्वरूप की सिद्धि ही जिनका साध्य है उस साध्य की प्राप्ति के साधन में उद्यत रहने वाले निर्ग्रन्थ साधुजन ही वन्दनीय है। अत ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ मे मङ्गलाचरण रूप सर्व प्रथम इन्ही की वन्दना करते है -

अरिहते वदित्ता सिद्धे पुण्णे तहेव आयरिये।
उवज्झाए निग्गथे रयणत्तयधारए वदे ।।१।।

भावार्थ—शुद्ध आत्मा के स्वरूपमय धर्म के रसिक होने से जो आत्मा धर्मध्यान, शुक्लध्यान व महान्सम्यक् तपोबल के द्वारा घाती-आत्म-गुणो का घात करने वाले ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीयकर्म और अन्तरायकर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर

आत्मसत्तागत केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यातचारित्र, अनन्त दानलब्धि व लाभलब्धि एव स्वभोग्य अनाबाध सुखादि का भोग तथा उपभोग, अनन्तवीर्यादि स्वशक्ति विलास सुखों को प्राप्त हो गये हैं; वे अर्हत् कहलाते है । उन अर्हन्तों को तथा शैलेशीकरण के द्वारा अघाति कर्म-वेदनीयकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म तथा आयुष्यकर्म भी जिनके सर्वथा नष्ट (क्षय) हो गये हैं, जो सहज आत्यन्तिक और एकान्त, निष्प्रयास अनायास, अकृत्रिम, निरुपचरित, अनन्त, सम्पूर्ण आत्म-स्वभाव के प्रकट होने रूप अखण्ड आनन्दमय है । ऐसे सिद्धो को नमस्कार करके (इन दोनो अर्हत् सिद्ध के ग्रहण से देवतत्व की उपलब्धि की भावना अभिव्यक्त की है) तथा यथार्थ, शुद्ध, अनेकान्त स्याद्वाद दृष्टि से पदार्थों का स्वरूप प्रकट करने मे कुशल, श्रुतज्ञान का जिन मे प्रागभाव (स्पष्टता) है और स्व-पर का उपकार करने वाले, पॉच आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार मे स्वय प्रवृत्त रहकर अन्यों को प्रवृत्त करते है, ऐसे आचार्यो को एव स्वरूप के साधन मे रुचि वाले, श्रेष्ठ श्रुतज्ञान के अध्ययन अध्यापन के द्वारा उपकार करने वाले उपाध्याय भगवन्तों और सर्व परभाव को दूर करने के लिए उद्यत, ५ समिति, ३ गुप्ति की सम्यक्प्रकार से रक्षा (पालन) करने वाले, द्रव्य आश्रव व भाव आश्रव से विरत रत्नत्रय के आराधक, निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करता हूँ । अव ग्रन्थ का विषय प्रस्तुत करते है :-

जीव सरूवो ससमओ परभावो सव्वहा य परसमओ ।
जीव परभावरओ परसमय ससमयं सभावत्थो ।२।

अर्थ—वास्तव मे जीव का स्वरूप ही स्वसमय-सिद्धान्त-स्वभाव है और परभाव सर्वथा परसमय है । यह जीव परभाव मे रहता हुआ परसमय तथा स्वभावस्थ स्व-समय है ।

भावार्थ —जो यह आत्मा है वह नित्य परिणामी स्व-स्वभाव में ही स्थित रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की मात्र अनुभूति रूप लक्षण वाली सत्ता से शोभायमान है । क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रकार ने "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" कहकर सत् का लक्षण अभिहित किया है और जीव अस्तिकाय है, अत सत् रूप है । उसी सत्ता से शोभित होता हुआ चैतन्य रूप होने से नित्य उदित ज्ञान दर्शन, आदि अनन्तधर्मों से अधिरूढ एकधर्मी है । अर्थात् चैतन्यधर्मी है, और जानने देखने आदि की अनन्त शक्तियाँ उसके धर्म अर्थात् स्वभाव हैं क्योंकि शास्त्र में वस्तु के स्वभाव को ही "वत्थु सहावो धम्मो" कहकर धर्म कहा है । ज्ञान-दर्शनादि नित्य उदित रहने से द्रव्य भाव, क्रम-अक्रम में प्रवृत्त विचित्र भावों के स्वभाव वाला होने से गुण और पर्याय वाला है । गुण सहभावी होते है और पर्याय क्रमभावी । इन्हीं ज्ञानादि गुणों से और पर्यायों से स्व पर भाव को प्रकाशित करने मे समर्थ होने के कारण विश्वरूप (केवली समुद्घात के समय तथा ज्ञान रूप से) और एक रूपमय होता है । प्रतिविशिष्ट अवगाहना (शरीर की ऊँचाई) गति, स्थिति, वर्त्तना-निमित्तत्व, रूपित्व के अभाव से तथा असाधारण चिद्रूपतारूप स्वभाव के सद्भाव से, उपर्युक्त अवगाहना, गति, स्थिति आदि गुणवाले आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल उन पाँच द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न, अनादि से अनन्त बार द्रव्यों से मिश्रण होने पर भी स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता और टंकोत्कीर्ण अक्षरवत् जिसमें चिद्भाव सदा विद्यमान रहता है, वह जीव नामक पदार्थ ही वास्तव में स्वसमय अर्थात् स्वसिद्धान्त है ।

सारांश कि चेतन की चिद्रूपता निगोद दशा मे भी सर्वथा नष्ट नहीं होती । वह कभी अजीव-जड नहीं बनता, वहाँ भी अक्षर-ज्ञान का अनन्तवाँ भाग निरावृत रहता ही है । यहाँ जीव को ही जो स्वसमय नाम

दिया गया है, उसका आशय है सम् एकत्वेन अर्थात् एक रूप से-युगपत्-एक साथ अयति—जानता है, वह समय अर्थात् ज्ञान है और जीव वस्तुत ज्ञान स्वरूप है । अत. जीव को स्वसमय कहना युक्तियुक्त और यथार्थ है ।

एकत्व का निश्चय होने पर अपने स्वरूप मे समस्त गुणो को प्रवृत्ति स्व-समय है । उसमे प्रवृत्त आत्मा बन्धक रूप नही होता है, अर्थात् अबन्धक होता है, क्योकि धर्मास्ति (अन्य), अधर्मास्ति आदि सभी द्रव्य अपने मे ही मग्न रहते हैं । अपने अपने धर्म यानी स्वभाव चक्र मे रहते हुए परस्पर एक दूसरे के साथ रहते हुए भी एक दूसरे का गुण ग्रहण नही करते और सदा स्वरूप मे ही स्थित रहते है पररूप मे कदापि परिणत नही होते स्वसमयस्थ रहते है । यहाँ समय का अर्थ काल या सिद्धान्त नही, किन्तु सम्पत्ति अर्थात स्वगुणरूप धन है । जैसे धर्मद्रव्य का गुण गति-सहाय है, अधर्म द्रव्य का स्थिति-सहाय, आकाश का अवकाशदान, काल का परिवर्तन, पुद्गल का क्षणभङ्गुरता और जीव का चेतनाज्ञान है । ये छहो द्रव्य अपना अपना गुण अपने पास ही रखते है, परस्पर किसी का लेते देते नही । तथापि अनादि मोहित परभाव-पुद्गल मे स्वभाव के अध्यारोप और मिथ्यात्व, अज्ञान और असयम मे एक रूप बने हुए पर रूप मे परगुण मे मग्न आत्मा का स्वरूप तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रमय है । पुद्गल जड शरीरादि परद्रव्य की शुद्धि से कौन सी आत्मा की शुद्धि है । अत· आत्म-शुद्धि ही जिसमे मुख्य है, ऐसे स्वसिद्धान्त का पठन-पाठन ही करना चाहिये क्योंकि कहा गया है —

सुअ परिचयाणभूया सव्वहास्सवि कामभोग बधकहा परिचाया अर्थात् श्रुत के साथ परिचय करके स्वानुभूति करना चाहिये । शेष सभी प्रकार

की कामभोगादि की कथा, कर्मबन्ध कराने वाली है और सुलभ है, किन्तु जो गुण-पर्याय की एकता रूप स्वपरिणति में परिणमनरूप स्वरूप कथा है अर्थात् जिसमें आत्मा के स्वरूप का वर्णन हो वह कथा सुलभ नही है। बुद्धिमान् जन ऐसी कथा का ही जिसमें स्वरूप को निरावरण करने की बात हो, उद्यम करते है और इसीलिए निर्ग्रन्थ श्रमण, श्रमणी, भ्रान्त हुए अनन्त संसारी जीव जिस इन्द्रिय-सुख को इष्ट समझ कर भोगते हैं, उसका परित्याग करते है। गृहस्थों से दूर एकान्त निवास स्थान में रहते है। गुरु चरणों की सेवा करते हैं अर्थात गुरु के समीप रहते है। निर्दोष आहार के लिए घर-घर घूमते है। बाईस परिषह सहते है। भयंकर उपसर्ग भी दृढ़ता से सहन करते हुए समाधिमग्न रहते है।

अत्यन्त विसवादिनी कामभोगानुबन्ध कथा अर्थात् वे कथाएँ या वैसा साहित्य जिसमें वासनाओं को उत्तेजित करने वाले भाव-भाषा आदि है और पूर्वापर विसवाद से भरे वाक्य है जिसका अनन्त बार आत्मा से परिचय हो चुका है ऐसे विकार जिसके पठन-पाठन से उत्पन्न हो सकते हो, उस प्रकार का साहित्य न पढ़े। सदा उत्तम तत्व का चिन्तन करने वाले और अन्तःकरण मे सतत्व ज्ञान का जिनके प्रकाश है ऐसे महान् पुरुषों का ज्ञान भी क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायचक्र से एकीकरण करता हुआ अज्ञान रूप में परिणत हो जाता है, क्योंकि वास्तविक रूप में आत्मतत्व मे यद्यपि ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुण सदा विद्यमान रहते है। तथापि अन्तःकरण में प्रकाशमान ज्ञानादिक कषायचक्र-क्रोध मान माया लोभ, हास्य-रति-अरति-भय-शोक-जुगुप्सा एवं स्त्रीवेद नपुंसकवेद आदि एवं ज्ञानावरणादि के साथ एकीकरण होने से वह ज्ञानतत्व अत्यन्त तिरोभूत (छुप) हो रहा है। स्वात्मतत्वस्वरूप को जानता नही है तथा महापुरुषों की उपासना न करने के कारण उस स्वरूप को पहले कभी न

सुना है, न परिचित हुआ है, न कभी अनुभव किया है, कि मेरे आत्मा का स्वरूप अत्यन्त निर्मल है । यह तो जड चेतन के भेद-ज्ञान रूप विवेक के आलोक मे ही अनुभव किया जा सकता है । उस तत्व को जानने के लिए ही आत्मधर्म का अभ्यास करना चाहिये । अतएव आत्मस्वरूप ही यहाँ कहा जा रहा है ।

इस जगत मे समस्त पदार्थो को प्रकाशित करने वाले स्यात् पद से मुद्रित-शब्द-ब्रह्म से उत्पन्न, सम्पूर्ण क्षोद-क्षम ऐसी नीति रूप सुख है जिसका, उससे उत्पन्न ऐसी युक्ति के अवलम्बन से उद्‌भूत, निर्मल विज्ञानघन मे निमग्न, अत्यन्त उत्कृष्ट, गुरु की कृपा से प्राप्त, शुद्ध आत्मानुशासन से उत्पन्न, सतत दिव्य सुन्दर आनन्द से युक्त, तीव्र सवित् (ज्ञान-अनुभव) स्वानुभव से उद्‌भूत, जो कोई भी मेरे आत्मा का स्वविभव है, उससे एकत्व और पर से विभक्त आत्मा को देखूँ : ऐसे निश्चय से बँधा हुआ, तथा स्वानुभव के प्रत्यक्षज्ञान से सम्पूर्ण आनन्द ही आनन्द के समूह को भोगने के लिये, उक्त प्रकार की आत्मा को देखूँ इस निश्चय से प्रतिबद्ध हूँ । इसलिये महर्षिगण नयो के चक्र मे नही पडते । इसी कारण आत्मानुभव मे मग्न आचार्यो की भक्ति व सेवा करते है । इसीलिये नय, प्रमाण, निक्षेप आदि की जानकारी करते है और इनसे युक्त जैन आगमशास्त्रों का श्रवण, पठन, मननादि करते है । सनत्कुमारादि चक्रवर्ती जैसे भी अत्यन्त सुन्दर स्त्रियों के कामभोगो को छोडकर तत्वसाधन मे प्रवृत्त होते है । अब यह शुद्ध आत्मा कौन है ? कैसा है ? उसकास्वरूप बतलाते है:—जो स्वत सिद्धरूप से अनादि, अनन्त, नित्य उद्योतित, उज्ज्वलज्योतिर्मय, ज्ञायक भावरूप है ।

ससारी अवस्था मे रहा हुआ, अनादिबन्धपर्याय निरूपण से कर्म-पुद्‌गलों के साथ क्षीर नीरवत् एकरूप बन जाने पर भी स्वभाव निरूपण

"जइ जिणमय पवज्जह, तो मा ववहार निच्छए मुयह ।
इक्केण विणा तित्थं, छिज्जइ उ तत्त" इत्यादि ॥

अर्थ.—यदि जैनमत का आश्रय लेते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को ही मत छोडो, क्योंकि एक के विना अर्थात् व्यवहार के बिना तो तीर्थ—चतुर्विध सघ का ही विच्छेद हो जाता है और निश्चय के विना तत्व ही विलुप्त हो जायगा ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन उभयसापेक्ष श्रद्धायुक्त लक्षण वाला है । उत्तराध्ययन मे भी यही कहा है—

"जीवाजीवो य वधो य पुण्णपावासवो तहा ।
सवरो निज्जरामुक्खो सति ए तहिया नव ॥१॥
तहिया ण भावाण सब्भावे उवएसण ।
भावेण सद्दहतस्स सम्मत्त त वियाहिय ॥२॥"

अर्थ.—जीव, अजीव, वन्ध, पुण्य, पाप, तथा आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव तत्व हैं । इन तत्वों के भावों का सद्भाव रूप से उपदेश देने और भाव से श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व है, ऐसा जानो ।

१. इनमे जो चैतन्यस्वरूप परिणामी कर्त्ता-भोक्ता स्वदेह परिमाण है, वह जीव है ।

२. चैतन्यरहित अकर्त्ता अभोक्ता किन्तु परिणामी है, वह अजीव है ।

३. जीव के शुभ योग, कषायादि से गृहीत एव वद्ध और आह्लादजनक विपाक हेतु पुण्य है ।

४. अशुभयोग कषायादि से गृहीत और बद्ध आत्मा के लिये कटुक विपाक का हेतु पाप है ।

५ जिससे नये कर्म आते है वह आस्रव है ।

६ जिससे नवीन कर्म आते है उस परिणाम को रोकना सवर है ।

७ आत्मप्रदेशो में स्थित सत्तागत कर्मो को आत्मप्रदेशो से पृथक् कर नष्ट करना निर्जरा है ।

८ डिबिया मे भरे कज्जलचूर्ण के समान कर्मवर्गणाएँ समस्त लोक में भरी पड़ी है । उनमें से कुछ पुद्गलो को ग्रहण कर आत्मप्रदेशो के साथ मिलाकर लोलीभूत कर देना बन्ध है ।

९ संवर और निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है ।

ये नव तत्त्व या पदार्थ है । इनमें एक जीव है, शेष (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) काल और (५) पुद्गलास्तिकाय, ये पाँच अजीव है ।

आत्मप्रदेशो मे रहे हुये शुभाशुभ कर्म प्रकृति रूप पुण्य-पाप है । आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध जीव के परिणाम है । सम्यग्ज्ञान सम्यग्-दर्शन, सम्यग्चारित्र व सम्यग् तप के प्रकर्ष से आत्मा का कर्मावरण रहित हो जाना मोक्ष है । जीव और अजीव की स्थिति सर्वकालिक है । पुण्य-पाप कर्म प्रकृतियो की स्थिति जितनी जीव बाँधता है उतनी होती है, जैसे कि सातावेदनीय कर्म की पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की और असातावेदनीय कर्म की तीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है । इस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र से सभी कर्म प्रकृतियो की स्थिति जाननी चाहिये । आस्रव अध्यवसाय की जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्ट स्थिति आठ समय की होती है, ऐसे ही संवर अध्यवसाय की भी इतनी ही स्थिति है । निर्जरा व मोक्ष की एक सामयिकी स्थिति है । अव्यवहारनय से बन्ध की स्थिति भी एक समय की ही है, ऐसा जानना चाहिये । ये तथ्य भाव है, इन तथ्य भावो का

सद्भावरूप से "श्रद्धान—यथार्थ उपलब्धि से यथार्थ निर्द्धारण ही सम्यग्दर्शन है" ऐसा जानना चाहिये ।

उस सम्यक् श्रद्धा को दिखलाने वाली गाथा 'प्रज्ञापना' के पद मे इस प्रकार है —

परमत्थसथवो वा सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वा वि ।

वावन्न कुदंसणवज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा ॥"

टीकाः—परमश्च तात्विकाश्च ते अर्थाश्च जीवादयस्ते परमार्था, तेषु सस्तव· परिचयस्तात्पर्येण बहुमानपुरस्सर जीवादि पदार्थावगमायाभ्यास·, वा समुच्चये । सुष्ठु सत्य यतो दृष्टा परमार्था जीवादयो यैस्ते सुदृष्ट परमार्था· बहुश्रुतास्तेषा सेवन पर्युपास्ति वैयावृत्त्यादिना, वावन्नकुदंसणा त्ति' व्यापन्न विनष्ट दर्शन येषा ते कुदर्शनाः शाक्यादयस्तेषा वज्जणा—वर्ज्जन, परिचयैरपि सातिचारिता, तर्हि वन्दन–नमने तु ससारवृद्धिरेवेति सम्मत्त सम्यक्त्व तस्य श्रद्धा प्रतीति निर्द्धारो यस्य स सम्यग्दृष्टि जीवो ज्ञेय· ।"

स स्वपरविवेकरसिकोऽनन्तविभावपुद्गलकर्मविपाकावृतोऽपि महा-मोहाच्छादितमप्यन्तरात्मान चिदानन्दघनीमूर्त्तस्वरूपविलासकत्वेन जानाति, नान्य· ।'

अर्थ·—परम और तात्त्विक अर्थ जीवादि है, इन्ही का परिचय करना अर्थात् बहुमानपूर्वक जीवादि नव पदार्थो को जानने का अभ्यास करना, इसे ही परमार्थ सस्तव कहते है । अथवा सुदृष्टपरमार्थ—बहुश्रुत–आचार्य उपाध्याय गणि आदि की सेवा–वैयावृत्य आहारादि लाकर आवश्यक वस्तु अर्पण, शारीरिक सेवा आज्ञापालन आदि करना और व्यापन्नदर्शन-सम्यक्त्वहीन निन्हव पार्श्वस्थ शिथिलाचारी अथवा अन्यदर्शनी कुदर्शनी आदि का ससर्ग न करना, यही सम्यक्त्व श्रद्धा है । व्यापन्नदर्शन वाले और कुदर्शनियो के साथ परिचय रखने से ही सम्यक्त्व मे अतिचार लगता

है और वन्दन नमनादि से संसारवृद्धि होती है । इससे वर्जन ही उचित है ।

सम्यग्दर्शनी आत्मा स्वपरविवेक रसिक होता है अर्थात् इसे स्व-पर का ध्यान सदा रहे, इसकी सावधानी रखता है । ऐसा जीव अनन्त वैभाविक कर्म पुद्गल का भोग करता हुआ और मोहाच्छादित अपने आत्मा को-अन्तरात्मा को चिदानन्द, घनीभूत, मूर्त स्वस्वरूप का विलास करता हुआ जानता है, अन्य नहीं । अर्थात् सम्यक्त्व-रहित आत्मा को स्व का भान नहीं होता । क्योंकि सर्वविरतित्व, देशविरतित्व और सवेगपक्ष अर्थात् सम्यगदर्शन्-ये तीनों ही मोक्षमार्ग है । जैसे कि—

ज्ञानानन्दमयोशुद्धो निर्मलाचल सद्गुण ।
भिन्नभावोप्यभिन्न स्याच्चेतनस्तत्त्व तन्मय ॥

अर्थ —आत्मा ज्ञानानन्दमय शुद्ध, निर्मल, अचल और सद्गुण वाला है । भिन्न-भिन्न भावो को जानता, देखता, भोगता हुआ भी अभिन्न है अर्थात् स्वभाव से अभिन्न रहता है । चेतन अपने स्वरूपमय है, स्वरूप में तन्मय रहने वाला है ।

गाथा —दसणनाण चरित्ताणि आयसभावो अणन्न परिणामी ।
सुद्ध निच्छय नयेणेयं ववहारेण सकम्मगो ॥३॥

व्याख्या —यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप आत्मस्वभाव वाला है । तत्वार्थ की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन, जीवादि सर्वभावो के यथार्थ अवबोध को सम्यग्ज्ञान कहते है । स्वपर विवेक ज्ञान से स्व को स्व पने और पर को परत्व रूप से जान लेने के पश्चात स्वधर्म उपादान-ग्रहण रूप भेदज्ञान के अवलम्बन से स्वधर्म मे रमण और पर भाव के परित्यागरूप सम्यक् चारित्र है । ऐसे ही अनन्त परिणाम वाला है । व्यवहार नय से सकर्मक है ।

इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से स्वरूपनिर्द्धार, स्वरूपभासन और स्वरूप रमण रूप तीनों के एकीभाव को प्राप्त आत्मा सवर परिणमन रूप आत्म स्वभाव वाला है, आत्मा को अमूर्त्त, अजन्मा, अखण्ड, शान्त, शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वरूप से अनुभव करता हुआ सम्पूर्णानन्द का साधक होता है। कहा भी है.—

"अयि ! कथमयि कृत्वा तत्व कौतूहलीसन्,
अनुभव ! भवमूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहुर्त्तम् ।
पृथगथ विलसन्तं स्व समालोक्य सम्यक्
त्यजसि झगिति मूर्त्याः साकमेकत्वमोहम् ॥

अर्थ—हे भद्र आत्मन् ! किसी भी प्रकार से तत्व, आत्मतत्व जानने का उत्साही होता हुआ एक मुहूर्त्त मात्र स्वय को शरीर से भिन्न-(पार्श्ववर्त्ती वनकर) अनुभव कर ! इससे स्वय की आत्मा को शरीर से पृथक् आनन्द स्वरूप देखकर तेरा शरीर के साथ एकत्व का मोह शीघ्र ही छूट जायगा ।

अशुद्ध व्यवहारनय से यही आत्मा चेतना के परानुयायिनी वनने और परपरिणमन से सकर्मक वनता है। इस प्रकार वास्तव मे आत्मा आत्मरमणी ही है । किन्तु अशुद्ध परिणति से पररमणी हो जाने पर स्वक्षेत्रावगाढ द्रव्यकर्ममालिन्य से ससार परिणाम को प्राप्त हो गया है अर्थात् ससारी वना हुआ है फिर भी उसे शुद्धचिदानन्द रूप को ही ध्येय रूप से धारण करना चाहिये ।

यहाँ जिज्ञासु प्रश्न करता है कि-यदि जीव शरीर नहीं है तो फिर तीर्थंकरादि महापुरुषों के शरीर वर्णन से उनका स्तवन करना और उनके अतिशयादि की स्तुति करना तथा नाम जाप करना, यह आत्मस्तुति तो है नहीं फिर इनके करने से क्या लाभ ?

उत्तर—जैसे स्वर्ण के आभूषणादि अनेक आकार धारण कर लेने पर भी व्यवहार नय से स्वर्ण व्यपदेश किया जाता है। शुद्ध निश्चय नय से तो पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व आदि गुणों से ही स्वर्णस्वरूप है। उसीप्रकार व्यवहारनय से तीर्थंकर केवली आदि महापुरुषों के सहनन, संस्थान आदि शारीरिक स्थिति की स्तुति करने से उन्हीं की स्तुति है। निश्चयनय से तो शरीरस्तवन द्वारा आत्मस्तवन अनुपपन्न ही है अर्थात् नही होता। निश्चयनय से शरीर आदि के गुण, केवली भगवान के गुण नही है। अत अनपवर्त्तन चेतना लक्षण वाले परम–आनन्द मय केवली भगवान के शरीरादि पुद्गलगुणो का स्तवन आत्म–स्तवन नही है। आत्मा के द्रव्यादि भेद से वर्तन होने के कारण उनके शरीरातिशयों से सश्लेषित–मिश्रित आत्मा की सद्भूत व्यवहारनय से ही स्तुति है। निश्चयनय से तो उनके निर्मल अनन्तज्ञान अनन्तदर्शनरूप उपयोग और आत्मानन्द अनुभवमय आत्मा की परम क्षमा मार्दवादिपूर्ण शुद्धचारित्रसुख वीर्यान्वित स्थिति की स्तुति ही वास्तविक स्तुति है। इसे अन्वयस्तुति कहते है। अखण्ड, अबाध, अशरीरी, अनाहारी आदि वीतरागादि गुणों की स्तुति व्यतिरेक निश्चय स्तुति है। स्वभाव आविर्भावलक्षण वाले निश्चयगुणों से जो बहुमानपूर्वक उनके गुणों की अनुयायिता परिणति है, वह तात्विक भक्ति है। आहार–नीहार की अदृश्यता, कमलगन्धी श्वासोच्छ्वास, मासरुधिर की श्वेतता, शरीर निर्मलता, नीरोगिता आदि शरीरानुयायी अतिशयसम्पदादि की और समस्तसशयोच्छेदक सद्धर्मदेशनादि उपकारक सम्पदा की स्तुति सम्पद्रूप स्तुति भक्ति है।

हे नाथ! मोहमुग्ध, अनादिकालीन कर्मो से बद्ध कुण्ठित तृष्णा से तप्त हमको आपके अतिरिक्त कौन तारने वाला है? इत्यादि भद्रक भक्ति है। इस प्रकार सभी स्तुति स्तवनो मे विभाग करके जानना चाहिये। वास्तव मे स्वरूप सम्पदा की स्तुति ही तत्व भक्ति है। वास्तव में यथार्थ

ज्ञानी ही ससार से निवृत्त होता है । जैसा कि श्री आचाराग सूत्र मे कहा है —

"सड्ढी आणाए मेहावी लोय च आणाए अभिसमिच्चा ।

अकुतोभय अत्थि सत्थ परेण पर नत्थि असत्थं परेण पर।१२५।

जे कोहदसी से माणदसी, जे माणदसी से मायदसी, जे मायदसी से लोभदसी, जे लोभदसी से पेज्जदसी, जे पेज्जदसी से दोसदसी, जे दोसदसी से मोहदसी, जे मोहदसी से गब्भदसी, जे गब्भदसी से जम्मदसी, जे जम्मदसी से मारदसी, जे मारदसी से निरयदसी, जे निरयदसी से तिरियदसी, जे तिरियदसी से दुक्खदसी, से मेहावी अभिनिविट्टिज्जा ।"
आचाराग ३, ४, १२५-१२६

टीका.—'सड्ढो' इत्यादि, श्रद्धा-मोक्षमार्गोद्यमेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् 'आज्ञया, तीर्थकरप्रणीतागमानुसारेण यथोक्तानुष्ठन-विधायी 'मेधावी' अप्रमत्तयति मर्यादाव्यवस्थित श्रेण्यार्हो, नापर इति । किच-'लोग च' इत्यादि, च समुच्चये लोक षड्जीवनिकायात्मक कषायलोक वा 'आज्ञया' मौनीन्द्रागमोपदेशेन 'अभिसमेत्य' ज्ञात्वा षड् जीवनिकायलोकस्य यथा न कुतश्चिन्निमित्ताद् भय भवति तथा विधेय, कषायलोक प्रत्याख्यान-परिज्ञानाच्च तस्यैव परिहर्त्तु र्न कुतश्चिद् भयमुपजायत इति, लोक वा चराचरमाज्ञया आगमाभिप्रायेणाऽभिसमेत्य न कुतश्चिदैहि-कामुष्मिकापाय सन्दर्शनतो भय भवति । तच्च भय शस्त्राद् भवति, तस्य च शस्त्रस्य प्रकर्षगति रस्त्युत नेति ? अस्तीति दर्शयति-'अत्थि' इत्यादि, तत्र द्रव्यशस्त्र कृपाणादि तत्परेणापि परमस्ति तीक्ष्णादपि तीक्ष्णतरमस्ति, लोहकर्त्तुसस्कारविशेषात्, यद् वा शस्त्रमित्युपघातकारि, तत एकस्मा त्पीजकारिणोऽन्यत् पीडाकार्युत्पद्यते, तनोप्यपरभिति, तद्यथा-कृपाणा-भिघाताद् वातोत्दोष , तत शिरोऽर्त्तिः, तस्या ज्वरः, ततोऽपि मुखशोष

मूर्च्छोदय इति, भावशस्त्र पारम्पर्यत्वेकसूत्रान्तरितं स्वत एव प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारेण वक्ष्यति, यथा च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्ति पारम्पर्यं वा विद्यते अशस्त्रस्य तथा नास्ति, इति दर्शयितुमाह—'नत्थि' इत्यादि, 'नास्ति' न विद्यते किं तद् ? 'अशस्त्रं' 'शस्त्रं' संयम तत् 'परेण पर' मिति प्रकर्षगत्यापन्नमिति, तथाहि—पृथिव्यादीनां सर्वतुल्यता कार्या न मन्दतीव्रभेदोऽस्तीति, पृथिव्यादिषु समभावत्वात् सामायिकस्य, अथवा शैलेश्यवस्था संयमादपि परः संयमो नास्ति, तद् उर्द्ध गुणस्थानाभावात् इति भाव ।

यो हि क्रोधमुपादानते बन्धत स्थितितो विपाकतोऽनन्तानुबन्धि लक्षयतःक्षयमाश्रित्य प्रत्याख्यानपरिज्ञयाजानाति सोऽपरमानादि-दर्शपीत्येतदेव प्रतिसूत्रं लगयितव्यमित्याह—

योहि क्रोधं स्वरूपतो वेत्ति अनर्थपरित्यागरूपत्वाज्ज्ञानस्य परिहरति च स मानमपि पश्यति परिहरति चेति, यदिवा य क्रोधं पश्यति आचरति स मानमपि पश्यति मानाध्मातो भवतीत्यर्थ एवं उत्तरात्रापि आयोज्यम् ।

टीका का सारांश—श्रद्धावान मोक्षमार्ग पर चलने का इच्छुक साधक तीर्थंकरों के द्वारा प्रणीत आगमानुसार यथोक्त अनुष्ठान करने वाला, अप्रमत्त साधु ही उपशम श्रेणी क्षपक श्रेणी करने योग्य होता है, अन्य नहीं । और षड्जीवनिकायात्मक लोक को भी आगमोक्ति से जानकर पृथिवीकायिकादि जीवों को किसी भी प्रकार से कोई भय सन्ताप न हो, वैसा करना योग्य है, क्योंकि कषाय स्वरूप लोक के ज्ञान और प्रत्याख्यान से उन पृथिवीकायिकादि जीवों की हिंसा का परिहार करने वाले से ही छः काया के जीवों को भय नहीं उत्पन्न होता । अथवा आगम के अभिप्राय को जानकर वैसा आचरण करने वालों के इस लोक का या परलोक का कोई भय नहीं रहता ।

शस्त्र दो प्रकार के है—

१ द्रव्य शस्त्र २ भाव शस्त्र । १ द्रव्य शस्त्र कृपाणादि है । वे एक से एक तीक्ष्णतर होते है । अथवा उपघातकारि भी शस्त्र है । जिनका प्रयोग करने पर प्राणि को पीडा होती है । पीड़ा मे दोष कुपित होते है —ज्वर हो जाता है, मुख शोष मुर्च्छादि होते है, भाव शस्त्र क्रोधादि है, उनका भी परम्परा से दोष दिखलाते हुए आगे कहेगे । आत्मा मे रहे हुये वास्तविक दोषो को नष्ट करने वाला उत्कृष्टतर-शस्त्र सयम है ।

सयमी सभी जीवो-पृथ्व्यादि मे समदर्शी होता है । सामायिक समदर्शी के होता है । समभाव को ही सामायिक कहते है । पूर्ण सयम शैलेशी अवस्था मे होता है । वहाँ सर्वथा हिसानिवृत्त बनता है और दोष नष्ट हो जाते है ।

जो क्रोध को उपादान बन्ध, स्थिति, विपाक और अनन्तानुबन्धी आदि ४ लक्षणो से तथा क्षयोपशम, क्षयादि को समझकर त्यागने योग्य जान लेता है, वह मान आदि अन्य को भी जान लेता है । यही प्रतिसूत्र के साथ लगाना चाहिये ।

सूत्रार्थ.—जो क्रोध को उपर्युक्त प्रकार से जानकर त्याग देता है वह मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यक, दु ख को भी जानकर इनका त्याग कर देता है अर्थात् जो भाव शस्त्र की इस परम्परा का ज्ञान होने से इनसे अभिनिवृत्त होता है, वही वास्तव मे बुद्धिमान है । ये भाव शस्त्र, आत्मगुणो को श्रद्धा, सयम, ज्ञान आदि की शक्ति को दबाकर रखते है, और आत्मा अज्ञान से इनके आधीन बनकर ससार भ्रमण बढ़ाता हुआ दु ख भोगता रहता है, अत. आन्तरिक दोषों को जानना व त्याग करना, साधक के लिये अनिवार्य है । इनमे क्रोधादि मे प्रवृत्ति करता हुआ, मोक्ष मार्ग मे बढ़ने की अपेक्षा, ससार वृद्धि करता रहता है ।

'श्रद्धा-मोक्षमार्गोद्यमेच्छा, अर्थात् मुक्ति मार्ग पर चलन का उद्यम करूं, ऐसी इच्छा को श्रद्धा कहते है । ऐसी इच्छा जिसे हो वह श्रद्धावान् है । आज्ञा अर्थात् तीर्थकर प्रणीत आगम के अनुसार आगम मे कहे हुए अनुष्ठान को करने वाला, मेधावी मर्यादा में रहा हुआ है, वह श्रेणी के योग्य है, अन्य नही । लोक षड् द्रव्यात्मक है, अथवा षड्जीवनिकायरूप है, व कषायरूप है ऐसा जिनेन्द्र के उपदेश से जानकर कौन ऐसा है जो निर्भय रहे । आशय यह है कि शास्त्र-श्रवण के द्वारा ससार की वास्तविकताओ का ज्ञान हो जाता है और आत्मा भवभ्रमण से डर जाता है, तथा तत्वजिज्ञासु होकर तत्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने पर ही निर्भय होता है, क्योकि जो अज्ञानतावृत है, वह गुण-दोष नहीं जान सकता । जैसे क्रोध एक दोष है, उसके आने पर साधारण जन जो स्व पर के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण क्रोध रूप ही अपने आपको कर लेता है । अथवा अज्ञानी होने से अनादि काल की आकुलता से तप्त जो चेतन के परिणाम है, वह ही क्रोध है । ऐसा शास्त्र से जान लेता है और क्रोध को जान लेने वाला, मान को भी जान लेता है कि अशुद्ध परभाव की, उपधि होने पर आत्मा का उद्धत परिणाम, मान है । इस प्रकार समस्त दुख को कर्म के कारण होना मानने वाला बुद्धिमान ही इन विषय कषायादि दोषो से निवृत्त होता है" । इससे सिद्ध हुआ कि यथार्थज्ञानी ही ससार से निवृत्त होने योग्य है । अत ज्ञाता के उस त्याग को दिखाते है :—

जह नाम कोई पुरिसो, परदव्वमिणत्ति जाणिउँ चयइ ।
तह सव्वे पर भावा णाउण विमुंचये णाणी ॥४॥

जैसे कोई पुरुष भ्रम से अथवा शीघ्रतावश रजक से किसी दूसरे व्यक्ति के कपडे लेकर, 'ये मेरे ही है इस बुद्धि से पहन रहा है ।' इतने मे उन वस्त्रो का स्वामी आ गया और उसने कहा हे बन्धु । ये वस्त्र तो

श्री भगवती सूत्र में भी जीव अजीव आदि तत्वों के ज्ञापन के प्रत्याख्यान को ही सुप्रत्याख्यान कहा है । दशवैकालिकसूत्र मे भी इसी प्रकार कहा है—

पढम नाणं तओ दया एव चिट्ठइ सव्व सजए ।

अन्नाणी कि काही किवा नाही छेय पावग ।

अर्थ —पहले ज्ञान प्राप्त करना और फिर अहिंसामय आचरण करना, इसी प्रकार सर्व साधु करते है क्योंकि अज्ञानी श्रेय व पाप को नहीं जानता । टीकाकार ने अज्ञानी का अर्थ–वह क्या करेगा शुद्ध साध्य शून्य है । अज्ञानी वस्तुत त्यागी नही, ज्ञानी ही त्यागी है ।

'लोकसार' मे भी इसी अर्थ की पुष्टि की गई है ।

अब पुन परभाव क्या है ? इसी का विवेक जागृत करने को ग्रन्थकार कहते है—

णोऽहं मोहो न मे मोहो णो विभावजकारगो ।

अप्पा जेसिं नत्थित्त णं मज्झ तेसिं भिन्नत्तण मई ॥५॥

यहाँ निश्चय ही शुद्धफल देने में सामर्थ्य वाला सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होकर स्वभाव से ही पुद्गल से निवृत्त होता हुआ टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव ही परमार्थ से ज्ञायक स्वभाव है । यह स्थिति होने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर आत्मा मोहादि विकारों को परभाव रूप से जानकर इस विचार को दृढ करता है कि मैं स्वयं मोह रूप नही हूँ न मोह मेरा स्वभाव है, प्रत्युत परभाव है, मुझ से भिन्न है, मेरा नही है । न मुझ से प्रादुर्भूत है ।

आत्मा स्वयं ही विश्व को प्रकाशित करने वाला सूर्य है ।

सदा विकस्वर प्रताप सम्पत रूप किरणो वाला है ऐसी चित् शक्तिमात्र से स्वभाव, स्वरूप भाव द्वारा कोई आत्मा अवबुद्ध होता है,

विभिन्न परभाव मेरे स्वभाव ही नहीं है, तो उत्सर्ग से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से मैं दानादि का दाता भी नहीं हूँ क्योंकि कोई भी द्रव्य-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्‌गलास्तिकाय, जीवास्ति-काय, अपने स्वभाव को किसी को देने मे समर्थ नहीं । अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव में ही रहते है, एक दूसरे क स्वभाव का विनिमय कभी होता ही नहीं है, तो मेरा कैसे हो सकता है । पर पुद्‌गल स्कन्धो का ग्रहण, दान, (आदान, प्रदान) आत्मधर्म नहीं । 'जड वस्तु के दानादान मे मैं दाता या ग्राहक हूँ ऐसा भाव तो मिथ्याभिनिवेश अर्थात् झूठा आग्रह, मिथ्या धारणा है ।

इस प्रकार पुद्गलस्कन्धों का कर्त्ता, भोक्ता, दाता आदि मैं नहीं हूँ । उपाधि-शरीरादि से ही परभाव रसिक कहा जाने पर भी कि "मैं कर्त्ता, भोक्ता हूँ" वास्तव में हूँ नही । किन्तु ज्ञान दर्शन चारित्र रूप में परिणत आत्मा का क्या स्वरूप है, इसी को बतलाते हुए कहते है —

इक्को सुद्धो जिन्नो, दसणणाण मई सयारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणु मित्तपि ॥६॥

व्याख्या—जो जीव अनादिकाल से मोहोन्मत्त होने से अप्रतिबुद्ध है-अज्ञानी है, वह किन्ही अनिर्विण्ण—वैराग्यमय, अत्यन्त करुणामय गुरु के द्वारा निरन्तर प्रतिबोध पाता हुआ अर्थात् सद्‌गुरु द्वारा सदा तत्त्वज्ञान श्रवण करता हुआ, किसी प्रकार प्रतिबोध पाकर जैसे कोई अपने हाथ मे स्वर्ण रखा हुआ है इसे भूला हुआ रहता है किन्तु किसी के द्वारा भान कराने पर स्वर्ण को देख लेता है । इसी न्याय से अनादि काल से विस्मृत आत्मस्वरूप का अवलोकन करने लगता है और जान लेता है कि अहो ! मै तो परमात्मा स्वरूप हूँ । शुद्ध श्रद्धा और वैसी अनुचर्या अर्थात् अनुभव द्वारा सम्यग् रूप से आत्मा का भान कर लेता है । जो ऐसा निश्चय करता है कि जैसे समस्त कर्ममल का नाश होने पर सिद्ध

भगवान् निर्मल, निष्कलक असगी, ज्ञानमय, अक्षय, अज, अजर, अमर अरूपी है, वैसे ही मै हूँ, अत वह आत्मा जैसा अनन्त केवलज्ञानियों द्वारा मूल स्वरूप से देखा गया है वही मै हूँ । वही चिन्मात्र ज्योति मेरे प्रत्यक्ष रूप से है । सर्व क्रम या अक्रम से होते हुए व्यावहारिक कार्यों द्वारा चिन्मात्ररूप से भेद किया जाने वाला होने के कारण वह एक है; और नर, देव, तिर्यञ्च नारक पर्यायों से, राग द्वेषादि भाव कर्मो से, पुण्य पाप प्रकृति रूप प्राणातिपातादि आश्रवों से, धर्मास्तिकायादि पर द्रव्यों से, निर्जरा बन्ध मोक्ष लक्षण कर्त्तव्यो से, रहित होने के कारण शुद्ध रूप है क्योंकि निर्जरण योग्य कर्म पुद्गलों के रहने पर ही निर्जरा होती है । अकर्मक आत्मा के नहीं, अत· निर्जरा आत्मधर्म नहीं । हेतुरूप परिणत आत्म प्रदेशों से कर्म पुद्गलों का क्षीर-नीरवत् एक करना बन्ध कहलाता है, वह भी अकार्य ही है । अर्थात् आत्मा के करने योग्य नहीं । बन्धे हुए का छूटना मोक्ष है, वह भी पूर्वबद्ध होने से करना पड़ रहा है, तथापि सत्तागत धर्म नहीं है । आशय यह है कि सत्तागत धर्म तो केवल ज्ञातृत्व जो टकोत्कीर्णवत् भाव से अत्यन्त स्पष्ट होने से शुद्ध, चिन्मात्र आकार से सामान्य विशेष उपयोग अर्थात् दर्शनज्ञान परिणतिरूप दर्शनज्ञानमय सकर्मा होने से वर्णगन्ध रस स्पर्श का सवेदन रूप परिणत्व होने पर भी स्वय वर्णादिरूप से अपरिणत्व होने के कारण परमार्थ से सदैव अरूपी है । किचिन्मात्र भी परमाणु (पुद्गलाश) आत्मा का अपना है, ऐसा प्रतिभास नहीं होता । अज्ञानतावश और वैसी ही भावना मे रहा हुआ संसारी प्राणी कर्म का मैं कर्त्ता हूँ । इस गलत धारणा के कारण पुद्गल-जड से एकरूपता का अनुभव करता हुआ रहता है और यही बार-बार उद्भावना करता है ।

स्वभाव की तीव्रवीर्य धारा से और विभाव की मन्दता से तथा स्वतत्त्व की एकता मे रमणरूप कुठार से और सम्यग्ज्ञान से देखी गई व

ग्रहण की गई, सन्धि अर्थात् जहाँ जीव और जड का योग है, राग द्वेषरूप मोहादि कर्म के बन्धन का मूल है । उसे जड से उखाडकर प्रस्फुरित ज्ञान ज्योतिर्मय आत्मा, समस्त शत्रुओं पर विजयी वन के राजा के समान परमात्मा परमानन्दमय दीप्तिमान् होता है । सारांश कि क्षायिकादिसम्यक्त्वधारी बनता है और वह क्षायिकसम्यक्त्व आदि सम्यक्त्वयुक्त आत्मा शुद्ध आत्म तत्व के साध्य के अवलम्बन से पाँच आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार रूप आचार में प्रवृत्त होता है । तथा उस आत्मा के सम्यग्दर्शनादि गुण अत्यन्त प्रवर्द्धमान होते है और यथाक्रम से गुण श्रेणी में गमन होता है । आत्मा विशुद्धतम होता हुआ क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर मोह का सर्वथा क्षय कर देता है । घाती कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञानी बनता है और अन्त मे सर्वमनोवाक्काय रूप योगो का निरोध करके घनस्वरूप स्पर्शादिरहित गति से ऊर्ध्व गति स्वभाव धर्मास्तिकाय की विद्यमानता जहाँ तक है वहाँ तक–अर्थात् लोकान्त मे जहाँ सिद्धशिला का ऊपरी भाग है, वहाँ परम अव्याबाध अनन्द रूप सिद्ध भगवान् बनकर सर्वसाधक जनो के लिए ध्येय रूप से सदा अनन्त काल तक आत्मा अवस्थित हो जाता है । (यही मोक्ष है इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिये साधक की साधना है ।)

इति श्रीमद् देवचन्द्र गणि विरचिते अध्यात्मप्रबोधे अपरनाम देशनासार ग्रन्थे प्रथमोऽधिकारः समाप्त ॥

॥ जीवाऽजीव भेद विज्ञान नाम द्वितीय अधिकार ॥

अब प्रथम अधिकार मे कहा गया लब्धिसिद्धत्व व साध्यसिद्धत्व का मूल कारण जो भेदज्ञान है, उसे दूसरे अधिकार में विस्तृत रूप से कहते है —

आया आयसहावा न परभावी कयावि वत्थुत्ते ।
(जुत्तो परेण जाओ) स परजुत्तो सग दोसेण मुत्तव्वे ॥१॥

आत्मा आत्मस्वभावी है, वस्तुत. परभावी कदापि नहीं । परयुक्त जो हो गया है अर्थात् पुद्गल के साथ जो बँधा हुआ है और जड के प्रति ममत्व बुद्धि है, वह सगदोष से है, अत. उस सग को छोडना चाहिए ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं और सद्‌रूप हैं, क्योंकि ये सब अपने रूप को-स्वभाव को छोड़कर कदापि पररूप नहीं वनते । अत जीवद्रव्य चेतना लक्षणवान्, असख्यप्रदेशी, सच्चिदानन्दघन स्वआत्मस्वभावी है, स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव वाला है । सर्वज्ञेय वस्तुओं का ज्ञायक स्वभाव से ही जो उपर्युक्त गुणयुक्त है, वह कदापि परभावी नहीं होता; क्योंकि जो जिसका वास्तविक धर्म नहीं है, उसका परिणमन उस पर रूप मे कभी हो नहीं सकता और प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वभाव गुण रूप मे रहता है । यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो फिर इस ससार मे जीवो की रागद्वेषादिरूप प्रवृत्ति क्यों दिखलाई पडती है और आत्मा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्ममय दृष्टिगोचर होता है, ऐसा किस कारण से है ?

उत्तर यह है कि आत्मा जो पर-जड युक्त हो रहा है अथवा राग द्वेषरूप परिणत होता हुआ और जन्म-मरणादि करता देखा जा रहा है, वह सगदोष से है । अत पर-सग छोड़ने योग्य है क्योंकि उपर्युक्त सारे कार्य जन्ममरणादि रागद्वेष विकारादि सगदोष से हैं । सग दोष त्यागना ही श्रेयस्कर है । वास्तव मे तो आत्मा तो असगी है । व्याप्य व्यापक भाव से न सगी है, न सश्लिष्ट (सश्लिष्ट-मिला हुआ) है । न यह पर का आधार है न आधेय है । न परभावो का कर्त्ता है और न परभाव-पुद्गलादि इसके कार्य हैं । न यह परभावों का भोक्ता है, न परभाव इसके भोग्य हैं । अत परभाव-ससर्गी नहीं है, किन्तु ज्ञेय और दृश्यत्व

से यह ज्ञापक तथा द्रष्टा है । अत स्व स्वभावमयी ही आत्मा है । वही तो अनादि संगांगी भाव से घिरा हुआ परभाव को ही अपने कार्यरूप से और योग्य रूप से जानता हुआ परभावों का ग्राहक हो गया है । इस प्रकार विपर्यस्तविरोधी चेतना परिणत—अर्थात् रागद्वेष रूप परिणत, व संसरण अवस्था को–जन्ममरण व चतुर्गत्यादि रूप भ्रमणावस्था को प्राप्त हुआ भी समवाय सम्बन्ध के अभाव से—जड से भिन्न करने योग्य है, और भेद करने मे ही इस आत्मा की साधकता है । सर्वथा परभाव से पृथक हो जाना ही परमानन्द प्राप्तिरूप सिद्धि है ।

आचारांग सूत्र के द्वितीय शीतोष्णीय अध्ययन मे कहा है —

"अणण्णे परमं नाणी" व "न अन्य अनन्य न पर इत्यर्थ" अर्थात् आत्मा पर नहीं है,जड रूप नहीं है, परमज्ञानी है । पुन उसी सूत्र मे कहा है "वता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजणं" टीका —'वता' इत्यादि 'वात्वा' त्यक्त्वा लोगरूप लोकस्य–आत्मव्यतिरिक्तस्य धनपुत्र शरीरादे 'सयोग' ममत्वपूर्वक सम्बन्धं शारीरदु खादि हेतु तद्धेतु–कर्मोपादानकारण वा 'यान्ति' गच्छन्ति 'धीरा' कर्मविदारण सहिष्णव यान्ति अनेन मोक्षमिति यान—चारित्र तच्च अनेक भवकोटि दुर्लभं लब्धमपि प्रमादयतस्तथाविधकर्मोदयात् स्वभावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद् यान च महायान यदि वा महद्यान–सम्यग्दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो– मोक्षस्त यान्तीति सम्बन्ध —

अर्थात्—धीरपुरुष कर्मो को आत्मा से दूर करने में समर्थ है । वही लोगस्स सयोगो–आत्मा से अतिरिक्त सभी धन पुत्र कलत्रादि का ममत्व पूर्वक सम्बन्ध जो शरीरादि दु खों का हेतु है, अथवा सयोग ही कर्मोपादान का हेतु है, उसे छोडकर महायान—यान चारित्र को जो अनेक भावो की कोटि मे अत्यन्त दुर्लभ है, उसे पाकर भी प्रमाद से वैसे कर्मो से स्वप्न मे मिली हुई निधि के समान समझ लेता है, अत महत्

शब्द का प्रयोग किया है सारांश कि चारित्र महान् है, वही मोक्ष का मार्ग है, उसे पाकर धीर पुरुष मुक्त होते हैं। इन उपर्युक्त वाक्यों मे भी सभी परभावों का त्याग कहा गया है; अतः निश्चय करके परभावो के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये। यह कार्य स्व पर के भेदज्ञान से होता है; अतएव कहते हैं:—

गाथा

जीवो न धम्मदव्वं नो अधम्मो नभो नोणु।
न अन्न जीआ सव्वे न वध हेउ न योगाय ॥२॥
अप्पाणमयाणता मूढा दुपरप्पवाइणो केई।
जीव अज्झवसाण कम्म च तहा परूवन्ति ॥३॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्व मंदाणुभावग जीव।
मण्णाति तहा अवरे णोकम्म वावि जीवोत्ति ॥४॥
कम्म सुदय जीव अवरे कम्माणुभागमिच्छति।
तिव्वत्तण मदत्तण गुणेहि जो सो हवइ जीवो ॥५॥
जीवो कम्म उभय दोण्णि वि खलु के वि जीवमिच्छंति।
अवरे सयोगेण उ कम्माण जीवमिच्छंति ॥६॥
एव विहा वहुविहा परमप्पाण वदन्ति दुम्मेहा।
तेण परमवाइ णिच्छयवाइहि णिद्दिट्ठा ॥७॥
(कुलकम्)

व्याख्याः—यहाँ अव यह वतलाते है कि ज्ञानरूप असाधारण लक्षण वाला स्वय आत्मा होते हुए भी, अत्यन्त विमूढ़जन स्वपर विवेक से विमुख होने के कारण तत्वों का विभाजन भी ठीक ढग से नहीं कर पाते और तत्व समझने मे विमूढ़ बने हुये, तत्व से आत्मा को न जानते हुये,

बहुत से लोग अनेक प्रकार से आत्मा व पर पदार्थो को जीव कहते है। उनका निराकरण करने के लिये कहते है —

जीव चेतना लक्षण वाला और स्वात्मानन्द को भोगने वाला है, वह धर्मास्तिकाय नही। धर्मास्तिकाय एक अजीव द्रव्य है, जो अन्य द्रव्य–जीव और पुद्गल–जड को गति में अवलम्बन (सहारा) बनता है। धर्मास्तिकाय द्रव्यत एक द्रव्य है, क्षेत्रत असख्येय प्रदेशी है, कालत उत्पाद व्यय ध्रुव लक्षणयुक्त अनादि अनन्त है, भाव से अरूपी और जीवपुद्गल को चलने मे सहायक है, वह अमूर्त है स्वयं अचल है, अक्रिय अचेतन है। वह धर्मास्तिकाय जीव के साथ एक क्षेत्र मे रहता हुआ भी अलक्ष्य लक्षण वाला होने से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जीव नही है। ऐसे ही अधर्मास्तिकाय भी जीव नही है, क्योंकि स्थिति परिणत जीव पुद्गलो की स्थिति मे सहारा है, वह अधर्मास्तिकाय स्वय अचल है, द्रव्यत एकद्रव्य, क्षेत्रत असख्यप्रदेशी, कालत उत्पाद व्यय ध्रुव लक्षणवाला अनादि अनन्त है, भावत स्थिति सहायी है। स्वय अमूर्त्त अचेतन अक्रिय है, वह जीव नही है।

तथा नभ —आकाश जो सर्वद्रव्यो को अवकाशदायी स्थान आधार है, स्वयं अचल है। द्रव्यत एक है, क्षेत्रत अनन्तप्रदेशी है, कालत उत्पाद व्यय ध्रौव्यलक्षण वाला और अनादि अनन्त है। भावत अवगाह रूप है। अमूर्त अक्रिय अचेतन है। वह आकाशास्तिकाय भी जीव नही है। अर्थात् जीव धर्म अधर्म आकाश रूप नही है। अणु–परमाणु पूरण–गलन लक्षणवाला पुद्गलास्तिकाय है, पुद्गल परमाणु स्वरूप है और वे परमाणु अनन्त है। परमाणु का लक्षण इस प्रकार है —

तदत्यन्तसूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु ।
एक रसवर्णगन्धो द्विस्पर्श कार्यलिङ्गी च ॥

अर्थ—परमाणु, अत्यन्तसूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श वाला; तथा कार्य लिङ्गी होता है । वह परमाणु द्रव्यत· अनन्त, क्षेत्रत अविभागी, आकाश के एक प्रदेश की अवगाहना वाला है । जहाँ एक परमाणु अवगाह कर रहता है, वहाँ अवगाहन के सूक्ष्म होने से अन्य अनन्त परमाणु अवगाह कर रहते हैं । यह परमाणु काल से वर्णादि, पर्यायो और अगुरुलघु पर्यायो से उत्पादव्यय ध्रुव लक्षण वाला, अनादि अनन्त है । भाव से मूर्त अचेतन व अक्रिय है । सखेय, असखेय, अनन्त प्रदेशों के स्कन्ध बनने की योग्यता वाला है । पुद्गल परमाणु भी जीव नहीं हो सकता तथा स्वजीव द्रव्य से अन्य जो सिद्ध और ससारी जीव है वे द्रव्य से अनन्त हैं । क्षेत्र से एक जीव, असख्यात प्रदेशावगाही है, काल से अनादि अनन्त है, भाव से अमूर्त है, गुण से चेतना गुण वाले है, वे सब मुझ से-सत् स्वभाव से भिन्न है । वे मैं नहीं हूँ, अत· मैं ही 'मै' हूँ, पर रूप तो नहीं हूँ । तथा वन्ध के सत्तावन हेतु—पच मिथ्यात्व, वारह अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग हैं । उनमे पहले के तीन चेतना के व्याकुलता रूप है और योग वीर्य के चपलता रूप हैं, वे सत्तावन भी अशुद्धतारूप विभाव है । वे न जीव के धर्म है और न जीव के गुण है । आत्मा इन सवसे भिन्न है, सर्व का ज्ञाता है । वह बन्धन के हेतु रूप नहीं है ।

अव मिथ्यात्व एव कषायादि के अध्यवसाय-परिणाम-ससर्ग से उत्पन्न-अर्थात् जीव के साथ कर्मो का अनादि ससर्ग है और इनके—कर्मो के ससर्गवश आत्मा से ये उठते है । अत किन्हीं आत्माओं, विचारकों को इनमे आत्मत्व का व्यामोह हो जाता है । उसे दूर करने के लिए कहते है । पहले उनका अभीष्ट कहकर फिर निवारण करेगे ।

उनका अभीष्ट-धारणा क्या है ? उसे कहते हैं—

१-नैसर्गिक रागद्वेष से कलुषित परिणाम ही जीव है, क्योंकि तथाविध

परिणाम आत्मा को अंगारे के जैसा बना देता है, वह ही जीव है । इससे अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं मिलता है ।

२–अनादि अनन्त पूर्वापर भूत अवयव ससरण क्रिया रूप से क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से अतिरिक्त कुछ दूसरा उपलब्ध नही होता ।

३–तीव्र और मन्द अनुभाव से भेद किये जाने योग्य दुरन्त राग द्वेष रस निर्भर अध्यवसायों–परिणामों की परम्परा ही जीव है इनसे अतिरिक्त कुछ प्राप्त नही होता ।

४–नवीन और प्राचीन भाव से प्रवर्तता हुआ नोकर्म–शरीर ही जीव है, क्योंकि शरीर से अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थ की सम्प्राप्ति नही होती ।

५–सभी पुण्यपाप रूपमय रूप से चारों ओर से अनुभव होने वाला विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभ भावों के अतिरिक्त अन्य कुछ नही मिल रहा ।

६–साता असाता रूप से अभिव्याप्त, समस्त तीव्र और मन्दत्व गुणों से विद्यमान, कर्मों का अनुभव ही जीव है । क्योंकि सुखदुःख के सिवाय और किसी की उपलब्धि नही होती ।

७–आत्मा व कर्म दोनो मिलित अवस्था में रहे है और कर्म के अतिरिक्त अन्य कुछ उपलब्ध नहीं होता, अतः जीव, आत्मा व कर्म उभयात्मक है ।

८–क्रिया करने मे समर्थ कर्म संयोग ही जीव है । क्योंकि अष्ट कर्म के संयोग के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नही होता । इसी तरह के दूसरे भी अनेक प्रकार है । जिन्हे दुर्बुद्धिजन मानते है, और परमात्मा को भी वैसा ही कहते है । किन्तु परमार्थवादी उन्हे (ऐसा कहने वालो को) परमार्थवादी नही मानते, न कहते है । क्योंकि—

इच्चाइ सव्वभावा पुग्गल जीवाइ जोग निप्फन्ना ।
विवरीय कत्थनाहि विहिया कह हुंति ते जीवो ॥८॥

व्याख्या—उपर्युक्त सर्वभाव पुद्गल और जीव के सयोग से उत्पन्न होते है, ऐसा सर्वज्ञ केवलज्ञानी जिनेश्वर देवों ने कहा है । क्योंकि ये अध्यवसायादि भाव विश्वसाक्षी अर्हद भगवन्तों ने पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय वतलाये है, जो चेतनाशून्य हैं, और चेतन को पुद्गल द्रव्य से अतिरिक्त वतलाया गया है; अत पुद्गल, चैतन्यस्वभाव वाला जीव नहीं हो सकता । यह केवल आगमों की युक्ति ही नहीं है, अनुभवसिद्ध भी है । जो अनुभव-सिद्ध है, उसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है । प्रत्यक्ष को झुठलाया नहीं जा सकता । जो आत्मवादी हैं वे ही परमार्थवादी है, और यही सर्वज्ञवचन-आगम है, और स्वानुभवगर्भित युक्ति तो है ही । (अव उपर्युक्त विभिन्न मान्यताओं का युक्तिपूर्वक खण्डन करते हुये ग्रन्थकार महानुभाव कह रहे हैं·—)

१—नैसर्गिक रागद्वेष से कलुषित अध्यवसाय-परिणामवाला वैसे परिणाम के कारण निश्चय से तन्मय जीव नहीं है । क्योंकि जैसे कार्त्तस्वर सुवर्ण मे मिलावट के कारण जो कालिमा है, वह सुवर्ण की नहीं है, न वह सुवर्णरूप है । परीक्षक उस अन्य पदार्थ को मिलावट सिद्ध करता है और रसायनशास्त्री उसे दूर करने के लिए तपाने, तेजाब मे डालने आदि क्रियाओं के द्वारा कालिमा आदि दोषो को सुवर्ण से अलग करके सोने को शुद्ध बना देता है । वैसे ही विवेचकजनो द्वारा आत्मा भी चित्स्वभाव, रागद्वेषरहित समता व आनन्दमूर्त्तिरूप जाना देखा गया है । अत रागद्वेष आत्मा नहीं ।

२—अनादि अनन्त पूर्वापरभूत अवयववाला ससरण लक्षण क्रियारूप क्रीडा करता हुआ कर्म जीव है, ऐसा मानना भी उचित नहीं, क्योंकि कर्म से अतिरिक्त कर्म विपाक भी इन्द्रियों से जाना जाता है और आत्मा ज्ञातारूप अतीन्द्रिय व ज्ञान लक्षणवाला उपलब्ध है ।

३—तीव्र-मन्द अनुभाव से विद्यमान दुरन्त राग रस निर्भर, अध्यवसाय की परम्परा का बढ़ना-चलते रहना तद्रूप भी निश्चय से जीव नही है, क्योकि विवेकी जनो द्वारा आत्मा चित्स्वभाव ज्ञानरूप जाना देखा व अनुभव किया जा रहा है।

४—नये पुराने आदि व्यवस्था-भेद को प्रवर्तमान नोकर्म (शरीर) भी जीव नही है, क्योंकि शरीरादि के अतिरिक्त अन्य की स्वय को ही अनुभूति हो रही है।

५—सर्व जगत् को पुण्य पापमय रूप से आक्रान्त करने वाला कर्मविपाक भी वास्तव मे जीव नही है, क्योकि शुभाशुभ (पुण्य पाप) भाव के अतिरिक्त रूप से आत्मा ज्ञानानन्दमय उपलब्ध हो रहा है।

६—साता असातारूप से अभिव्याप्त, समस्त तीव्र मन्दत्व गुणो से भेद किया जाने वाला कर्मानुभाव भी जीव निश्चित रूप से नहीं है, क्योकि सुख दुख के अतिरिक्त रूप से अव्याबाध अखण्ड मय, चित्स्वभावमय आत्मा का विवेकशील साधक स्वय अनुभव करता है।

७—जीव कर्म दोनों मिले हुये उभयात्मक रूप से उपलब्ध होते है, अत जीव कर्म उभयात्मक आत्मा है, यह मान्यता भी मिथ्या है, क्योकि वस्तु स्वभाव से आत्मा, समस्त पर सयोगो से अतिरिक्त अमूर्त, अखण्ड, अनन्तचैतन्यरूप से सदा ज्ञायक स्वभाव वाला स्वयं को अनुभव करता है।

८—अर्थ क्रिया समर्थ कर्म सयोग जीव है, यह मान्यता भी ठीक नही, क्योंकि कर्म सयोग, पलंग पर सोनेवाले पुरुषवत् है। जैसे पर्यंकशायी पुरुष, पर्यंक से पृथक् है, तद्वत् आत्मा भी अष्ट कर्मो से पृथक् है, क्योकि बुद्धिमान् विवेकी जनो को स्व पर के विवेचन द्वारा कर्म का जड स्वभाव व आत्मा का चित्स्वभाव स्वत अनुभव होता है।

यदि आत्मा की उपलब्धि के विषय मे साधक—आत्मा को किसी

प्रकार का सशय, भ्रम, या विप्रतिपत्ति हो, तो वह स्वय अपने उपयोग-ज्ञान दर्शन से व आगमोक्ति की साक्षी से आत्मा का अनुशासन करे अर्थात् शिक्षा दे ।

विरम विरम भ्रातरात्मनो भिन्न भावात्
स्वयमपि चिद्रूप पश्य षण्मासमेकम् ॥
न खलु न खलु गच्छ स्वीयभाव परेषाम्,
भवति समुपलब्धिः स्वात्मभावस्य पूर्णम् ॥१॥

हे चेतन ! हे भ्रात ! आत्मा से भिन्न स्वरूपवाले भोगो से विरम विरम अर्थात् उनसे विरक्त हो, विरक्त हो, और छह महीने की अवधि तक मात्र चिद्रूप आत्मा को स्वय देख ! तथा अपने स्वभाव को परभावादि मे मत लेजा, निश्चय से मत ले जा ! ऐसा करने से ही स्वात्मभाव सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध हो जाता है ।

अध्यवसायरूप मन के परिणाम जो सयोगजन्य हैं, वे अन्यरूप से भले ही प्रतिभासित न होते हो, पर वे अन्य ही है । शुद्ध आत्मा मे उनका सद्भाव नही है ऐसा जानकर जैसे जिसकी पाद गमन शक्ति न्यून या मन्द है, वह लकडी या बेत का सहारा लेकर चलता है, पर उसे भूषण रूप नही मानता, बल्कि सामर्थ्य की कमी का चिन्ह मानता है, वैसे ही साधक दशा मे निमित्त का आलम्बन भी आत्मा की अपूर्णता का लिग-चिन्ह है । विशेष क्या कहे, ज्ञायक आनन्द रूपस्थ साधर्म्य परद्रव्य का आलम्बन भी अपनी सामर्थ्य की न्यूनता के निवारण के लिये है, आत्मा की पूर्णता के लिये नही है । आत्मा के अतिरिक्त सभी भाव जड हैं—इसी को कहते हैं,

स अट्ठविह पि य कम्म सव्व पुग्गलमय भणति केवलिणो ।
जस्स फल सव्वपि रोहग आयधम्मस्स ॥९॥

व्याख्या—योग स्थान, कषायस्थानादि अशुद्ध अध्यवसाय मन परिणामो की उत्पत्ति आदि सभी अष्ट विध कर्म जनित भाव पुद्गलमय है, ऐसा सर्व केवलज्ञानी कहते है । उन कर्ममय पुद्गलो का जो विपाक काष्ठ शाखा दिशा मे आये हुये फल रूप से अभिलिप्त-सम्बद्ध है, वह अनाकुलत्व लक्षण सुख नामक आत्म स्वभाव के लक्ष्यहीन होने से दुःख रूप हो जाता है और उसमें होने वाले मन के अध्यवसाय जो आकुलता लक्षण वाले है, वे भी वैसे हो जाते है । अत वे चिदन्वय का विभ्रम होने पर भी आत्मा के स्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गल के स्वभाव है । कोई शका करे कि जब अध्यवसायादि पुद्गल के स्वभाव है, तो उन्हे जीवत्व रूप से क्यो सूचित किया गया है ? समाधान यह है, कि जिनेश्वरदेवों ने व्यवहार का दर्शन कराने को ऐसा कहा है । जीव युक्त पुद्गलों में योग कषायादि विकार वास्तव में नहीं होते किन्तु तीर्थ-प्रवृत्ति के लिये व्यवहार से उनमें जीवत्व निरूपण किया है । जैसा कि आत्मा आठ प्रकार का आगम मे है । द्रव्य आत्मा, कषायात्मा, योगात्मादि । वह इसीलिये है कि जीव इनसे निवृत्त होकर, ज्ञानात्मा दर्शनात्मादि बने । यदि ऐसा न कहते और परमार्थ से जीव पुद्गल भिन्न ही है, तो त्रस स्थावरादि जीवों का भस्मवत् निःशंक उपमर्दन करते हुये हिसा भी नहीं होती और उस हिसा के अभाव मे बन्ध भी नहीं होता । तब जो स्थिति प्रत्यक्ष है, उसका भी अपलाप हो जाता और न किसी के बन्ध होता, न भोग, और न मुक्ति, और इनके अभाव में उपदेश की भी क्या आवश्यकता थी ? परन्तु ऐसा है नही । जीव राग द्वेष के परिणामो से बधा हुआ है, अनादिकाल से बन्धता है । अत इन दोषों के कारण जन्म मरण की परम्परा बढ़ती है और आत्मा दुःख भोगता है । स्वाभाविक भावदया से प्रेरित और सर्व ज्ञानी तीर्थंकर महापुरुष आत्माओं को मुक्ति के लिये ही, धर्ममार्ग का उपदेश देते है । और राग-द्वेष से बंधते हुए विमूढ जीव को

मुक्त करना है; अत वह राग-द्वेष मोहादि का परमार्थ से भेद दिखलाने पर ही मुक्त होने का उपाय ग्रहण करने का प्रयत्न करेगा । बन्ध का निश्चय से अभाव मान लेने पर तो मोक्ष का भी अभाव हो जाता है । ये राग-द्वेष जीव से भिन्न हैं, ऐसा है तो जीव का क्या लक्षण है ? और वास्तव में जीव का स्वरूप कैसा है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अरसमरूवमगध अव्वत्त वेयणा गुणमसद्दं ।
जाणगलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठ सठाण ॥१०॥

व्याख्या—वह रस जो पुद्गल का गुण है, पुद्गल द्रव्य से भिन्न नहीं रहता । आत्मा स्वय पुद्गल द्रव्य के गुणों से भिन्न है, क्योंकि उन पर परमार्थ से आत्मा का स्वामित्त्व नहीं है । यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि द्रव्येन्द्रिय के अवष्टब्ध हो जाने अर्थात् रोगादि कारण से जिह्वा की शक्ति नष्ट हो जाने पर स्वाद का अनुभव नही होता । भावेन्द्रियाँ व द्रव्येन्द्रियाँ क्षायोपशमिक भाव से होती हैं और भावेन्द्रिय के आलम्बन से द्रव्येन्द्रियाँ अपना विषय ग्रहण करने मे समर्थ होती है । सकल ज्ञेय ज्ञायक के तादात्म्य वाले आत्मा के रस ज्ञानरूप परिणत होने पर भी स्वय रस रूप परिणत नहीं होता; अत आत्मा 'अरस' है । इसी प्रकार आत्मा अरूप, अगन्ध, अस्पर्श और शब्द रहित (अशब्द) है, श्रुत ज्ञान से सज्ञादि का ग्रहण करने वाला होने पर भी स्वय अशब्द है । द्रव्यान्तर अर्थात् अन्य द्रव्य से बने हुए शरीरसंस्थान से ही सस्थान है, ऐसा निर्दिष्ट करना अशक्य है क्योंकि नियत स्वभाव से अनियत सस्थान अतःशरीरवर्ती होता है, और सस्थाननामकर्म के, विपाक का निर्देश पुद्गलो मे होता है । इस तरह आत्मा चारों ओर से समस्त वस्तुओं से सवलित (घिरा हुआ) है । सहज सवेदन (ज्ञान) होने पर भी स्वय अखिल लोक सवलनशून्य है,

और निर्मल अनुभूति वाला तथा सस्थानरहित है । जीव का कोई संस्थान निर्दिष्ट नही है, षद्द्रव्यात्मक लोक की ज्ञेयादि रूप से व्यक्तता होने से क्षणिक व्यक्ति-मात्र के अभाव से अव्यक्त रूप प्रतिभासता हुआ भी, व्यक्त स्पर्शवाला होने से, स्वयमेव बाह्य अभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव किया जाता हुआ और व्यक्त होने पर भी क्षण मे ही प्रद्योतमान होने से अव्यक्त है । रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तत्व के अभाव में भी स्वसवेदन बल से नित्य मानते हुए, प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमेय मात्र होने से, अलिग आत्मा का ग्रहण है । सारा ज्ञान (प्रमायी* विवेचक के सर्वस्व समर्पित है) समस्त लोकालोक को पूर्णरूप से बिना किसी की सहायता के सर्वकाल के भावो से किञ्चित् भी विचलित नहीं होते हुए अनन्य साधारणतया स्वभावभूत स्वय अनुभव किए जाते हुए चेतना गुण से सदैव अन्त प्रकाशमान होने से और चेतनागुण होने से वही आत्मा निर्मल आलाक वाला भगवान्-स्वरूप अकेला टकोत्कीर्ण प्रत्यक्ष ज्योति ही जीव है । सब भावों से ऊपर, और सर्व अनन्त पर-द्रव्यों से भिन्न सर्व ज्ञेय का ज्ञायक, ऐसा आत्मा आत्मरूप से स्वीकार करो, यह ग्रन्थकार का उपदेश है । आत्मा के अतिरिक्त सभी भाव पौद्गलिक और पुद्गलयोग जन्य है । और कहा भी—

जीवस्स नत्थि वण्णो, णवि गधो नवि रसो णवि य फासो ।
णवि सद्द न सरीर, णवि सठाण न सहणण ॥१॥
जीवस्स णत्थि रागो, णवि दोसो ण विज्जए मोहो ।
णो पच्चयाणकम्म, णो कम्मं चावि सेणत्थि ॥२॥
जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा णेव फ्फड्डया केई ।
णो अज्झवसाणा, णेव अणुभाग गणाणि ॥३॥

* प्रज्ञायुक्त विस्तृत विवेचक के अधीन है । सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञापकत्व है ।

आयस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण वचणा वा ।

णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणाठाण माईया ॥४॥

णो ठिई बधट्ठाणा, ण ठिई ठाणा ण सकिलेस ठाणा य ।

णेव विसेहीठाणा सजमा लद्धि ठाणा य । ॥५॥

णेव य जीवट्ठाणा, ण गुणठाणा मीसभावा जे ।

ए ए पुग्गलप्पभवा पुग्गलसजोग पभवा य ॥६॥

व्याख्या—त्रिकाल अखण्डित चेतनादि लक्षणवान् जीव के श्वेतादि वर्ण, सुरभि दुरभिरूप गन्ध, तिक्तादि रस, गुरु लघु शीत-उष्ण आदि स्पर्श, और शुभाशुभ मिश्रादि भाषा रूप शब्द नहीं है । ये जीव के गुण नहीं हैं । चेतना अनुभूति से भिन्न ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं । जो औदारिक वैक्रियक·अथवा तेजस, कार्मण शरीर आदि हैं ये भी जीव के नहीं है । पुद्गल द्रव्य परिणाम मय होने से अनुभूति भिन्न है । आत्मा की शुद्ध चेतना से अवष्टब्ध शरीर रागयुक्त आत्मा के वीर्य से गृहीत शरीर नाम कर्म प्रकृतिविपाकोदयजन्य होने से आत्मस्वरूप नहीं है । समचतुरस्रादि सस्थान और वज्रर्षभनाराचादि सघयण भी पुद्गलस्कन्ध होने से जीव नहीं है । जो प्रीति रूप राग है, वह भी कषाय से अवष्टब्ध चेतनाशक्ति द्वारा गृहीत कर्मोदय का मूल है; अत आत्मा राग रूप नहीं है क्योंकि जीव के अनादि पुद्गल भोग से उत्पन्न, इष्टता के परिणामरूप राग का आत्मा के स्वभाव के प्रकट होने पर सर्वथा अभाव हो जाता है । द्वेष भी अप्रीति का परिणाम है क्योंकि पर-जड-पुद्गल सयोग के निमित्त से उत्पन्न होता है और आत्मा का स्वभाव नहीं है और तत्व का अज्ञान रूप मोह है, वह भी आत्मा का नहीं; क्योंकि विपर्यस्त चेतना से बधे हुए जो मिथ्यात्वरूप पुद्गल हैं, उनके उदय से मोह उत्पन्न होता है । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग लक्षण जो कर्मबन्धन के हेतु हैं

वे भी सब जीव के नहीं है क्योंकि ये सब पुद्गल परिणाममय है । आत्मा में जड संग से अशुद्ध अध्यवसाय रूप विपाक के उदय से ये उत्पन्न होते है और आत्म-स्वरूप से विभिन्न है और जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप आठ कर्म है, वे भी उक्त हेतु परिणत आत्मा के वीर्य से गृहीत कामण वर्गणा के समूह रूप होने से, आत्मा के गुणो को रोकने रूप विपाक वाले होने और स्व-स्वभाव से भिन्न होने से आत्मा नहीं है ।

आहारपर्याप्ति द्वारा गृहीत पुद्गल परिणमन रूप नोकर्म-पंच शरीर आदि की ३६ प्रकृतियाँ इस प्रकार है—

नाम धुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिग ।
पुग्गलविवागि बंधो पयइठिइ-रसपयेसत्ति ॥२१॥

(पंचमकर्मग्रन्थ)

अर्थ—नाम कर्म की १३ ध्रुवोदय प्रकृतियाँ—१ निमाण २ स्थिर ३ अस्थिर ४ अगुरुलघु ५ शुभ ६ अशुभ ७ तेजस ८ कार्मण ९ वर्ण १० गन्ध ११ रस १२ स्पश १३ अन्य प्रकृतियाँ औदारिक शरीर १४ वैक्रियिक शरीर १५ आहारक शरीर १६ औदारिक अंगोपाग १७ वैक्रियक अंगोपांग १८ आहारक अंगोपाग १९ समचतुरस्र २० न्यग्रोध २१ सादि २२ वामन २३ कुब्ज २४ हुण्ड, ये ६ संस्थान। २५ वज्रर्षभनाराच २६ ऋषभनाराच २७ नाराच २८ अर्द्धनाराच २९ कीलक ३० सेवार्त्त ये छह संहनन । ३१ उपघात ३२ साधारण ३३ प्रत्येक ३४ उद्योत ३५ आतप ३६ पराघात । ये ३६ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकिनी है । ये पुद्गल परमाणुओ में ही अपना फल देती है ।

ये भी जीव नहीं है क्योंकि नोकर्म औदारिकादि ५ वर्गणा के स्कन्धस्वरूप शरीर है । अत नोकर्म जीव नहीं हो सकता । शरीर कर्म वर्गणा से बना हुआ है । सत्तागत प्रकृति विपाकोदय से औदारिकादि नये

पुद्गलों का स्कन्धरूप है और आत्मा के अशरीरी आदि गुणो का रोधक तथा आत्मशक्ति से भिन्न है ।

अनन्त जीवों का एक शरीर मे रहने रूप लक्षण वर्ग कहा जाता है, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है; क्योंकि वह साधारण नाम कर्म-विपाकजन्य है और वर्ग से सभी जीवों की अवगाहना भिन्न है । वर्गणा भी जीव नहीं है । वर्गणा ८ है । १ औदारिक २ वैक्रियक ३ आहारक ४ तैजस ५ भाषा ६ श्वासोच्छ्वास ७ मन और ८ कार्मण । ये दो दो प्रकार की हैं—१ ग्रहण योग्य २ अग्रहण योग्य । ऐसे इनके १६ भेद हैं । ध्रुवाध्रुव दोनों शून्या है—

प्रत्येका शून्या, वादर साधारणा शून्या, सूक्ष्म साधारणा शून्या, अचित्त महास्कन्ध रूपा आदि इन वर्गणाओं के २८ भेद हैं । ये सव पुद्गलों का समूह होने से व आत्मानुभूति से भिन्न होने के कारण जीव नहीं हो सकती ।

स्पर्द्धक—(जीव के द्वारा एक समय मे ग्रहण योग्य पुद्गल समूह विशेष) भी जीव नहीं है ।

जो अति तीव्र या मन्द रस बन्ध हेतुभूत कर्म दल विशिष्ट के न्यास (रखने) लक्षण रूप स्पर्द्धक स्थान है, वे सब जीव के नहीं है; अपितु स्वपर के एकत्व का अभ्यास होने पर शुद्ध चित् परिणामों से अतिरिक्त लक्षण वाले सर्व अशुद्ध अध्यवसान स्थान के उत्पन्न विशिष्ट प्रकृति रस परिणाम लक्षण वाले अनुभाग स्थान हैं । वे यथार्थ आत्म स्वरूप मे नहीं हैं; अतः आत्मा के नहीं है ।

योगस्थान भी आत्मा के नहीं है, काय, वाड् मनोयोग रूप वीर्य-शक्ति विशेष से अविभागी चल वीर्य लक्षण भाव योग स्थान हैं । और काय वाड् मनोवर्गणा रूप द्रव्य योग है, अत. आत्म स्वरूप नहीं हो सकते ।

वन्धस्थान भी आत्मा के नही है । प्रतिविशिष्ट प्रकृति परिणाम लक्षण जो वन्धस्थान है, वे भी सर्व विभावजन्य है, अत आत्मा के नही हो सकते । और जो स्वफल देने में समर्थ कर्म अवस्था लक्षण रूप उदयस्थान है, ये भी जीव के नही है ।

गति आदि चौदह मार्गणा —१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम ९ दर्शन १० लेश्या ११ भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ संज्ञित्व १४ आहारकत्व । ये भी आत्मरूप न होने से आत्मा के नही है ।

इसीप्रकार स्थितिबन्धस्थान, स्थितिस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, सयमस्थान, लब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान आदि जो मिश्र (जीव पुद्गल के योग से होने वाले) भाव है, वे सब पुद्गल जनित और पुद्गलसंयोग जनित है अत मिथ्यात्वादि चौदह गुण-स्थान भी साधक अवस्थारूप होने से उत्सर्ग स्वरूपोपादान से आत्मस्वरूप नही है ।

इसप्रकार इन सब से भिन्न, चिदानन्दरूप सम्यग्-ज्ञानदर्शन अव्याबाधादि, अनन्तधर्मात्मक, नित्यादि अनन्त स्वभावमय आत्मा है । रागादि सभी विभाव है वे जीव के नही है । इन परभावो और पर संयोगजन्य भावो से आत्मा पृथक ही है । यहाँ इतना ध्यान रखना है, कि व्यवहारनय वास्तव में अशुद्ध पर्यायाश्रित होने से "जीव के पुद्गल सयोग वश से अनादिबन्ध पर्याय का उदय है और पर्याय, कुसुम्भ (कसूम्बा) स रंगे हुये सूती वस्त्र के समान है, औपाधिक भाव का अवलम्बन लेकर जीव परभाव को अपना भाव समझ कर करता है, व्यवहारनय से ऐसा मानता है । निश्चयनय तो शुद्ध द्रव्य पर्यायाश्रित होने से केवल जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्ब कर चलता है और समस्त परभाव का निषेध करता है । अत वर्णादि तथा गुणस्थानादि अनन्त भाव जो जीव के व्यवहारनय की अपेक्षा से है, वे निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के नही होते, ऐसी प्रज्ञापना करना युक्तियुक्त है ।

अब यहाँ यह शका होती है कि वर्णादि भाव जीव के निश्चय नय से है ही नहीं, तो ससारी जीव के यह सब कैसे दिखते है ? इसका समाधान यों है.—

ए एहिय सबधी जहेव खीरोदय मुणेयव्वो ।
णय होंति तस्स ताणिओ उवओग गुणाहिओ जम्हा ॥१७॥

व्याख्याः—जैसे पानी मिले हुये दुग्ध का जल के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी स्व-लक्षण क्षीरत्व व्याप्य होने से व जल से अधिक रूप से प्रतीत होने से दुग्ध जल नहीं है । और जल दुग्ध नही है । तथा जल और दुग्ध मे उष्णता अग्नि के सम्पर्क से होती है, वह भी जल या दुग्ध का स्वभाव नहीं; क्योंकि अग्नि व जल का तादात्म्य सबन्ध नहीं है । उसी प्रकार वर्णादि पुद्गल द्रव्य परिणाममिश्रित आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी आत्मा का स्वलक्षण तो उपयोग गुण व्याप्यतया सर्व पर-द्रव्यों से अधिकता रूप प्रतीत हो रहा है, अत पुद्गल व आत्मा का सम्बन्ध क्षीर नीरवत् या जल उष्णता रूप है । जल का द्रवत्व और अग्नि का उष्णत्व जो गुण है, इगके कारण क्षीर नीर का व जल उष्णता का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध प्रतीत होता है; पर इनका सम्बन्ध तादात्म्य नहीं है, क्योंकि क्षीर से नीर पृथक किया जा सकता है । जल का सम्पर्क अग्नि से हटने पर वह शीतल हो जाता है । उसी प्रकार आत्मा के भी जो वर्णादि विविध भाव प्रतीत होते हैं; वे निश्चय से आत्मा के स्वरूप या भाव नहीं है । अत आत्मा सर्व परभावों से वास्तव मे भिन्न है और वही उपादेय है । इसी को विशेष रूप से परिपुष्ट करने के लिये कहते हैं—

तत्थ भवे जीवाणा ससारत्थाण होंति वण्णाई ।
ससार पमुक्काण णत्थि हु वण्णादओ कोई ॥१८॥

व्याख्या —जो सभी अवस्थाओं में तादात्म्य रूप से व्याप्त होता है, तादातमकत्व व्याप्तिशून्य नहीं होता और तब उसका उसके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध कहलाता है । अर्थात् उसी को तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध कहते है ।

सासारिक सभी अवस्थाओं में वर्णादि व्याप्त जीव का वर्णादि की व्याप्ति से शून्य हो जाने पर शुद्ध रूप होता है ।

"वही तादात्म्य सम्बन्ध है जो सब अवस्थाओ मे रहे" यद्यपि जीव का संसार अवस्था मे वर्णादि के साथ एकत्व है फिर भी, सिद्धावस्था में वह सर्वथा वर्णादि से विमुक्त हो जाता है । अत वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य सम्बन्ध नही है । कई लोग वर्णादि भाव पुद्गल द्रव्य का अनुगमन करते हुये, पुद्गल के वर्णादि के साथ तादात्म्य विशेष रूप से प्रकट करते है, वैसे ही ये वर्णादि भाव क्रमश जीव का अनुगमन करते हुये रहते है अत जीव का वर्णादि के साथ भी तादात्म्य है" । इस प्रकार का अभिनिवेश रखने वाले है । उनके मत में असाधारण वर्णादि पुद्गल लक्षण, पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ स्वीकार करने से जीव और पुद्गल की अविशेष प्रसक्ति (मिलन) होने पर भिन्न जीव का अभाव हो जाता है और तब आत्मा का भी अभाव हो जाता है । वास्तव मे ससारी जीव का पुद्गल के साथ संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नही । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि वर्णादि भाव जीव नही है, और रागादि भाव भी जीव के स्वभाव नही है किन्तु चारित्रमोहनीय के विपाक से उत्पन्न अव्रत रूप है । तथा क्षमामार्दवादि धर्मवान् आत्मा भी इस चारित्रमोहनीय के उदय से कलुषीकृत आत्मा होते है । अथात् आत्मा को मलीन बनाते है । और कलुषीकृत चेतनामय हेतुमद् क्षयोपशम भाव वाले आत्मा के रागादिभाव होते है, वे हेतुमद् भाव से उत्पन्न होने के कारण व्युत्पत्ति लक्षण संयोग सम्बन्ध से ही है क्योकि विभावो का तादात्म्य लक्षण

सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार जो भाव, कर्म निमित्त से होते हैं, वे जीव के स्वभाव-स्वधर्म नहीं । और ऐसे ही साधक अवस्था मे होने वाले धर्मध्यान शुक्लध्यान आयुजीकरण आदि जो सिद्धत्व रूप कार्य का निष्पादन करने के लिये आत्मा के द्वारा किये जाते है और आत्मागुण एकत्व भाव है, वे भी सिद्धत्व अवस्था मे प्राप्त न होने से ज्ञानादि गुणवान् आत्मा के स्वधर्म नहीं हैं, क्योकि वे साधक अवस्था मे ही उपलब्ध होते हैं । पूर्ण अखण्ड सिद्धावस्था मे नहीं मिलने वाले वे भाव, स्वरूप नहीं है । स्वरूप की उत्पत्ति मे सहायक रूप मात्र हैं । इस प्रकार इन समस्त और इस प्रकार के भावों से भिन्न, शुद्ध आनन्द लक्षण आत्मा ही श्रद्धेय-अर्थात् श्रद्धा करने योग्य है ।

तब आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है । इस जिज्ञासा की शान्ति हेतु कहते हैं —

अनाद्यनन्तमचल स्वसवेद्य सदा शुचि· ।
निष्कलङ्कमसयुक्त स्वरूपस्थमजमृजु· ॥१॥
सज्ज्ञानदर्शनानन्द-रूप चारित्रलक्षणम् ।
अमूर्त्त-पूर्णविज्ञान स्वसत्ताभाववेदकम् ॥२॥

अर्थ —आत्मा अनादि, अनन्त, अचल, स्वसवेद्य अर्थात् स्व के जानने योग्य, सदा पवित्र, निष्कलङ्क किसी के साथ सयुक्त नहीं है । स्वरूप मे रहा हुआ, अजन्मा और ऋृजु सरल है । ॥१॥

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और स्व आनन्द रूप चारित्र लक्षण वाला है, अमूर्त, पूर्ण विज्ञानी तथा स्वसत्ता भाव का अनुभव करने वाला है ॥२॥

अनादि परभाव-जड के ससर्ग से समुद्भूत विपर्यय व्यामोह आदि दोष समूह के सन्निपात से एकेन्द्रिय द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदिरूप से भव नाटक करता हुआ यह न नट है, न नाटक

इसका रूप है । यह शुद्ध चिदानन्द स्वभाव वाला होते हुये भी ज्ञानावरणीयादि कर्मो के विपाक से आवृत ज्ञानादि गुण के उपकरण रूप से प्रवृत्त होता हुआ, स्वीय धर्म कर्तृत्वादि शक्ति वाला होने पर भी पुद्गल, भोग, ग्रहण अनुयायी, कर्त्ता रूप से परभाव करता हुआ, द्रव्यकर्म नोकर्म करने से तद् भोग्य भोगोभूत जानता है और परभाव को एकता से दुःख को भी सुखबुद्धि से भोगता हुआ, पुनःपुन उसी परभाव को करता है, तथापि न वह आत्मा परभाव का कर्त्ता है न भोक्ता । जैसे नीचे का उदाहरण है—रज पर्व (धूलण्डी) क्रीडा में लीन असयमी पुरुष असत् पुरुषो द्वारा धूल से भरा जाने, असत् कलक दिये जाने, असभ्य अश्लील शब्दो द्वारा उपहास किये जाने पर भी जैसे प्रसन्न होता है । वैसे ही जो जीव मोहग्रस्त है, वह कर्मादि परभाव का कर्त्ता भोक्ता असद् भावो के द्वारा कहा जाने पर भी वर्तमान अवस्था मे ही अज्ञानवश मग्न रहता है । अतएव तीर्थङ्कर प्रणीत आगम श्रवणादि द्वारा आत्मा की यथार्थ श्रद्धायुक्त हो स्वपर का अवभासन (ज्ञान) कराने वाले ज्ञान द्वारा पुद्गलादि परभावो से अपने को पृथक करने वाले भेदज्ञान की धारा से भिन्न करने योग्य है । ऐसा विचार करना योग्य है कि मै इनका कर्त्ता, भोक्ता और ग्राहक भी नही हूँ मै तो अपने असख्य प्रदेशों से तादात्म्य भावभूत अपने ज्ञानदर्शनादि गुणों से पूर्ण हूँ । स्वगुणो का कर्त्ता भी और भोक्ता भी स्वगुणों का हूँ । स्वगुणो का ही पात्र हूँ । रागादि सयोगज भाव मेरे नही है, न मै सयोग का कर्त्ता हूँ' इस प्रकार स्वपर को विवक्त करने वाला आत्मा स्वगुणों के आविर्भाव के कार्य का कर्त्ता है, अपने ही गुणो को स्वरूप का अनुगत करने की सामर्थ्य यहाँ प्रकाशित होती है । आत्मा स्वय दाता और स्वय ही लाभरूप है, स्वय ही भोक्ता और स्वयं ही भोग्य रूप है ऐसा निश्चय करके अपना आत्मा स्वाभाविक सहज आत्यन्तिक ऐकान्तिक बिना किसी प्रयास या आयास के सम्पत्

विलासीरूप से साध्य है । अनादि कालीन ससार नाटक का ध्वसेन नाश सम्यक् ज्ञान और सम्यग्चारित्र के अभ्यास से करना है । तथा पूर्णानन्द अव्यावाध सुख की सिद्धि करनी है, अथच अजीव पुद्गल जड से जीव को पृथक करना है । ऊपर वताई युक्तियो से सिद्ध हो गया कि जीव, अजीव से भिन्न है ।

इत्थ ज्ञानक्रकचकलनाभेद-भेदेन भित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविभजनं स्वान्यभेद च कृत्वा ।
लोकालोकं सकलमपि विदन् व्यक्त चिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृ द्रव्य स्वयमतितरातावदुच्चैश्ववकासे ॥४॥

इस प्रकार ज्ञानरूपी क्रकच-शस्त्र विशेष (करोत या आरा) के प्रयोग से, आत्मा व जड का भेद करके जीव अजीव का स्पष्ट रूप से पृथक्त्व करने से स्वपर का भेद करके समस्त लोकालोक को जानता हुआ अभिव्यक्त चिन्मात्र शक्ति से ज्ञाताद्रव्य स्वय आत्मा उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित होता है ।

"इति जीवाजीव विभजनरूपो द्वितीयोऽधिकारः"

॥ पुण्य-पाप वर्णन नाम तृतीय अधिकार ॥

अव पुण्य पाप से भी यह आत्मा भिन्न ही है, इसका निरूपण करते हैं —

पुन्नमवि कम्म पुग्गलखधभूयं तहेव पाव च ।
हेऊ परिणामेण विवागभेय विणिच्छिद्द ॥१॥

व्याख्याः—पुण्य शुभ विपाक है; तथापि है तो कर्मपुद्गलस्कन्धभूत ही, और पाप भी कर्मपुद्गलस्कन्धभूत ही है । मिथ्यात्वादि हेतु परिणामों का जो शुभाशुभ है; उन्हीं का यह व्यापार है अत· विपाक भेद है; किन्तु ये आत्म धर्म स्वरूप नहीं, और कर्मप्रकृति रूप होने से पुण्य पाप दोनों

का क्षय होने पर ही मोक्ष होता है। विशेषावश्यक में कहा है —

"पुण्णफलं दुक्खं चिअ, कम्मोदयओ फलेव पावस्स ।

अर्थ —कर्मोदय से होने वाले पाप के फल के समान ही पुण्य फल भी दुख है।

"सायासाय दुक्ख तव्विरहम्मि अ सुहोते ।

ते देहिंदिएसु दुक्ख सुक्ख देहिंदिया भावो ॥२॥

साता असाता दोनो ही दुख रूप है। इनके-साता असाता वेदनीय के न रहने पर सुख है। ये देह और इन्द्रियों के होते है। ये सुख दुख है, देहेन्द्रिय के भाव है।

इस प्रकार पुण्य भी आत्मधर्म नही है। तथा उत्तराध्ययन में भी यही कहा गया है —

दुविह खवेऊण य पुन्न पाव,

निरगणो सव्व उ विप्पमुक्को ।

तरित्ता समुद्द च महाभवोह,

समुद्दपालेव अपुणागमं गई गए ॥

अर्थ —पुण्य और पाप दोनो को क्षय करके, निरग-शरीर रहित आत्मा सर्व से अत्यन्तमुक्त आत्मा, महाभव-ससाररूप समुद्र को पार करके अपुनरागम रूप गति (भव समुद्र के तीर पर) अथात् मुक्ति मे चला गया।

जे तो चिअ पच्चक्खं सोममसुह नत्थि दुक्खमेवेद ।

तप्पडियार विभत्तं नो पुण्ण फलंति पुक्खंति संठाणा ॥३॥

अर्थ —जो प्रत्यक्ष सुख रूप दिखता है, वह सुख नही, प्रत्युत दुख ही है। उसका प्रतिकार ऐसे होता है कि यह पुण्यफल होने पर भी दुखदाता ही है क्योकि भोगने का विपाक भी दुख रूप ही भोगना पडता है। पुण्य के निम्नलिखित बयालीस भेद है—

सा उच्चगोअ मणुदुग, सुरदुग पचिंदिय जाइ पण देहा ।
आइतितणूणुवगा, आइमसघयण सठाणा ॥१५॥
वण्णचउक्कागुरुलहु, परघाउस्सास आयवुज्जोअ ।
सुभखगइनिमिणतसदस, सुर नर तिरिआउ तित्थयर ॥१६॥
तस बायर पज्जत्त पत्तेअ थिरं सुभ च सुभग च ।
सुस्सर आइज्ज जस, तसाइ दसग इम होइ ॥१७॥

(नवतत्व प्रकरण)

अर्थ—१ साता वेदनीय २ उच्चगोत्र ३ मनुष्यगति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ देवगति ६ देवानुपूर्वी ७ पचेन्द्रियजाति पॉच शरीर ८ औदारिक ९ वैक्रायिक १० आहारक ११ तैजस १२ कार्मण । तीन अगोपाग—१३ औदारिक अगोपाग १४ वैक्रियक अगोपाग १५ आहारक अगोपाग १६ वज्रर्षभनाराच सघयण १७ समचतुरस्र सस्थान, शुभ वर्ण चतुष्क–१८ वर्ण १९ गन्ध २० रस २१ स्पर्श, २२ अगुरुलघु नाम कर्म २३ पराघात २४ स्वासोच्छ्वास २५ आतप २६ उद्योत २७ शुभ विहायोगति २८ निर्माण । त्रसदशक २९ त्रस ३० वादर ३१ पर्याप्त ३२ प्रत्येक ३३ स्थिर ३४ शुभ ३५ सुभग ३६ सुस्वर ३७ आदेय ३८ यश कीर्ति ३९ देवायु ४० मनुष्यायु ४१ तिर्यगायु ४२ तीर्थङ्कर नाम कर्म । ये पुण्य प्रकृतियॉ हैं ।

पापतत्व की ८२ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं :—

नाणतरायदसग, नव बीये नीयअसाय मिच्छत्त ।
थावरदस–निरयतिग कसाय पणवीस तिरियदुग ॥१८॥
इग–वि–ति–चउ, जाईओ, कुखगइ उवघाय हुति पावस्स ।
अपसत्थं वण्ण चउ अपढम सघयण सठाणा ॥१९॥

(नवतत्व प्रकरण)

अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच-१ मति ज्ञानावरणीय २ श्रुत ज्ञानावरणीय ३ अवधि ज्ञानावरणीय ४ मन पर्याय ज्ञानावरणीय ५ केवल ज्ञानावरणीय । पाच अन्तराय की-६ दानान्तराय ७ लाभान्तराय ८ भोगान्तराय ९ उपभोगान्तराय १० वीर्यान्तराय । दर्शनावरणीय की नव—११ चक्षुदर्शनावरणीय १२ अचक्षुदर्शनावरणीय १३ अवधि दर्शनावरणीय १४ केवल दर्शनावरणीय १५ निद्रा १६ निद्रानिद्रा १७ प्रचला १८ प्रचलाप्रचला १९ स्त्यानर्द्धि २० नीच गोत्र २१ असाता-वेदनीय २२ मिथ्यात्व मोहनीय । स्थावर दशक—२३ स्थावर २४ सूक्ष्म २५ अपर्याप्त २६ साधारण २७ अस्थिर २८ अशुभ २९ दौर्भाग्य ३० दुस्वर ३१ अनादेय ३२ अयशकीर्ति ३३ नरकगति ३४ नरकानुपूर्वी ३५ नरकायु । ३६ अनन्तानुबन्धी क्रोध ३७ अ० मान ३८ अ० माया ३९ अ० लोभ ४० अप्रत्याख्यानी क्रोध ४१ अप्र० मान ४२ अप्र० माया ४३ अप्र० लोभ ४४ प्रत्याखानी क्रोध ४५ प्रत्या० मान ४६ प्रत्या० माया ४७ प्रत्या० लोभ ४८ सज्वलन क्रोध ४९ स० मान ५० स० माया ५१ स० लोभ । ५२ हास्य ५३ रति ५४ अरति ५५ भय ५६ शोक ५७ जुगुप्सा ५८ स्त्रीवेद ५९ पुरुषवेद ६० नपुसकवेद ६१ तिर्यग्गति ६२ तिर्यगानुपूर्वी । ६३ एकेन्द्रिय जाति ६४ द्वीन्द्रिय जाति ६५ त्रीन्द्रिय जाति ६६ चतुरिन्द्रिय जाति ६७ अशुभ विहायोगति ६८ उपघात नाम कर्म ६९ अशुभवर्ण ७० अशुभगन्ध ७१ अशुभ रस ७२ अशुभ स्पर्श ७३ ऋषाभनाराच सघयण ७४ नाराच सघयण ७५ अर्द्धनाराच सघयण ७६ कीलिका सघयण ७७ सेवार्त्त सघयण ७८ न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान ७९ सादि सस्थान ८० वामन सस्थान ८१ कुब्ज सस्थान ८२ हुण्डक सस्थान । अत पुण्य पाप दोनो ही कर्म रूप है । सुख व दुख रूप भोगे जाते है । यही कहते हैं—

कम्ममसुह दुहद, सुहकम्मं भुंजइ सुहरूव ।
तहवि कह सुहरूव, ज ससार पवड्ढेइ ॥३॥

व्याख्याः—जीव के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगो की जो शुभाशुभ भाव रूप परिणति होती है, उन्हींके द्वारा स्वक्षेत्रगत कार्मणवर्गणा के ग्रहण से शुभाशुभ रागद्वेष कषाय स्थान की परिणति से-रसभेद परिणमन से पुण्य पाप प्रकृतियों का वन्ध होता है । यह सव आत्मा का स्वरूप नहीं है । हेतु परिणत जीव के द्वारा जो कर्म अशुभ ज्ञानावरणीयादि रूप से किये जाते है, वे दु खदायक और शुभ-साता वेदनीयादि बॉधे जाते है, वे भोगते समय सुख रूप लगते हे । यथार्थ से अवलोकन करने पर पुण्य कर्म कैसे सुख रूप माना जाय ? जो एकान्त रूप से असार है । भोगते हुए ससार की प्रकर्षरूप से वृद्धि करने वाला कहा गया है । वह पुण्य मेरा अर्थात् आत्मा का स्वरूप नहीं है ।

उसी को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाते है —

किसी चाडालिनी के दो पुत्र हुये, जन्मते ही एक पुत्र को सदाचारी व्राह्मण ले गया, दूसरा अपने ही घर रहा । विप्र के पास वह बालक स्नान दान अध्ययनादि कार्य करता हुआ उत्तम आचारवान् वन गया और जो चाडाल के घर रहा वह मॉस मदिरादि का सेवन आदि चाडाल क... करने लगा । एक ही माता को कुक्षि से उत्पन्न होने पर और समान/यु सदृश पुद्गल निर्मित होने पर भी दोनों ही निमित्तभेद से और आच... से विभिन्न अवस्थाओं-स्थितियों वाले बने । इसी प्रकार पुण्य प... पुद्गल स्कन्धो से निष्पन्न, मोह के हेतु आत्मगुणों को आवृत करने ... विपाक मे तुल्य हैं । तथापि भोगते समय आस्वाद भेद से भिन्न अनुभव होने से, पुण्य और पाप रूप से प्रसिद्ध हैं, तथापि विपाक भेद होने पर सम्यग्दृष्टि जीवो के स्वगुणों को रोकने रूप अविपाक स्वरूप होने से तुल्यता का भास नहीं होता । अत "वेश भेद से कुल भेद" इस न्याय से पुण्य व पाप का क्षेत्रावगाहित्व होने पर भी वे आत्मा के नहीं; पर ही हैं, ऐसा तीर्थङ्कर देवों ने कहा है । शुभाशुभ परिणाम का निमित्तत्व होने से

कारण भेद है । शुभाशुभ पुद्गलों मे परिणत होने से स्वभाव-भेद है । और शुभाशुभ फल का पाक होने से अनुभूति भेद है । एक ही कर्म कुछ शुभ और कुछ अशुभ है ऐसा भी कितने ही लोगों का जो मत है, वह तो प्रतिपक्ष है । तथापि शुभ, अशुभ तो जीव का परिणाम है । केवल पुद्गल मय होने से एकत्व होने पर स्वभाव भेद से एक कर्म शुभ या अशुभ फल पाक वाला है यह जीव का परिणाम है । भेदत ही केवल पुद्गलमय होने से एक देह मे एकत्व होने व अनुभव भी होने से दोनो— पुण्य पाप एक ही कर्म के दो रूप है ।

अब दोनो की विपाक भिन्नता दिखलाते है —

सोवण्णमय पि निअड रोहएइ कालसपि गुण भाव ।

तह रोहइ जीअ सत्ति सुहासुह कम्म भुज्जंत ॥४॥

व्याख्या —जैसे सोने की बेडी चलना आदि प्राणी की शक्ति को रोकती है वैसे लोहे की बेडी भी । रोकने रूप धर्म दोनो का समान ही है वैसे ही कर्मोदय से प्राप्त पुण्य भी अव्याबाध आदि आत्म गुणो का क है । कर्मोदय से प्राप्त पाप भी आत्मगुणो का अवरोध करता है । गुण अवरोधक रूप कार्य दोनो का तुल्य होने से दोनो ही पुण्य और र्म है । यद्यपि पुद्गल स्वत जीव के गुणो को नही समझता पर व द्वारा गृहीत पुद्गल ही आत्मा के गुणो को आवृत करने वाले हो ाते है । स्वयं जीव स्वगुणरोधक स्वभाव वाला नही है, परन्तु कुशील ससर्ग से ऐसा होता है । अत कुशील का आचरण और राग का ससर्ग मत करो, आत्म गुणो का नाश कुशील व राग से ही होता है । इसी को स्पष्ट करते है —

रत्तो बधई कम्म मुच्चइ जीवो विराय सपन्नो ।

एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥५॥

व्याख्याः—"जो रागी है वह अवश्य ही कर्म बाघता है और विरागी ही मुक्त होता है" ऐसा जिनेश्वर देवों का उपदेश है । अतः पुद्गलादि मे राग रखना अज्ञान है । सर्व पर-भावों मे विरक्तता करनी चाहिये । अपने ज्ञान दर्शन चारित्रादि धर्मो को सम्यक प्रकार से ग्रहण करने वाला आत्मा ही सर्व दोषो से मुक्त होता है । अत. तत्वज्ञ जन आत्मतत्त्व मे रत और सर्व पर-भावों से विरत ही रहते हैं ।

अव "सम्यग्ज्ञान मोक्ष का हेतु है" यह बताते हैं·—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जे केवली मुणी णाणी ।
तम्मि (म्हि) ट्ठिया सहावे मुणिणो पावति निव्वाण ॥६॥

व्याख्याः—मुख्यरूप से आत्मा के दो गुण हैः—१ ज्ञान, २ दर्शन । जैसा कि भगवती सूत्र मे —"गुणओ उवओग गुणे" गुण से आत्मा के उपयोग—ज्ञान और दर्शन गुण है । ऐसा पाठ है ।

औपपातिक सूत्र मे भी—

"असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे अ णाणे य ।
सागार मनागारं लक्खणमेय तु सिद्धाण ॥११॥

वे सिद्ध अशरीरी है मात्र जीव स्वरूप होने से जिनके प्रदेश घनरूप है, ज्ञान और दर्शन मे जिनका सदा उपयोग लगा रहता है, वह उपयोग साकार व अनाकार भेद से दो प्रकार है पर दोनों साथ ही रहते है । यही सिद्धों का-शुद्ध आत्माओं का लक्षण है ॥११॥

ग्यारहवे गणधरवाद मे भी कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व सिद्धावस्था मे होते हैं और कोई तो दानादि पचक और चारित्र सिद्धों के भी मानते हैं ।

और तत्वार्थकार से यथार्थ मे आशिक मतभेद है, कि वे सम्यक्त्व भी वहाँ सिद्धावस्था मे स्वीकार करते हैं । मुख्यरूप से तो दो गुण ही आत्मा

के माने गये है। उनके अभिप्राय में आत्मा का वास्तविक स्वरूप ज्ञान ही है। उनकी क्रिया ज्ञान की ही प्रवृत्ति है। वह कारणावस्था में होती है, अतएव कहते है—ज्ञान ही मोक्ष हेतु है। शुभाशुभ कर्म बन्ध की हेतु होने से अज्ञान अवस्था में की गई क्रिया, मोक्ष की हेतु नहीं है। वही ज्ञानमय आत्मा, जो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से भिन्न चिदानन्दमय, परमार्थमय, और वास्तविक परमार्थ है। इसे ग्रन्थकार ने यों कहा है कि समय अर्थात् स्वभाव ही निश्चय से परमार्थ है। उस स्वभाव में स्थित मुनिजन ही निर्वाण प्राप्त करते है।

इस वाक्य से आत्मा के अपने असख्य प्रदेशों मे व्याप्त व्यापक भाव से परिणत ज्ञान आनन्दादि स्वगुण ही स्वभाव रूप है। वह स्वसमय स्वभाव ही परमार्थ है। उस परमार्थ में स्थिति अर्थात् स्वरूप स्वभाव में जो रहना है, वही मोक्ष हेतु है स्वरूपालम्बन के बिना परमार्थ शून्यजन जो जप तप व्रतादि अनुष्ठान करते है, वो सब बालतप ही है, और निर्वाण का साधन नही है। कल्पभाष्य मे कहा है—

परमट्ठमि नु अट्ठिआ, जे नाण तव च धारिंति।
त सव्व बालतव बालवय विति सव्वन्नू ॥१॥

अर्थ—परमार्थ मे नही रहे हुये जो ज्ञान-तप आदि धारण करते है उन सब को सर्व बालतप और बालव्रत कहते है और विष गरलादि रूप से किये गये सभी अनुष्ठान संसारवृद्धि के लिये है। अत परमार्थ रहित जो करना है, वह सब संसार का हेतु है।

आणाए तवो आणाए संयमो, तह य दाणमाणाए।
आणारहियो धम्मो, पलाल पूलव्व पडिहाई ॥७॥

अर्थ—आज्ञा से ही तप संयम और दान आदि धर्म, धर्म रूप है। तीर्थंकर की आज्ञा रहित धर्म कार्य, भुसे के पूले के समान त्यागने योग्य है।

आचाराग मे "आणाए मुणी नो अणाणाए" कहा है । अर्थात् आज्ञा मे प्रवृत्ति करने वाला मुनि है । अनाज्ञा मे रहने वाला नहीं । उसी आचाराग सूत्र के सम्यक्त्व नामक चतुर्थ अध्ययन के तृतीय उद्देश मे कहा हैः—

"आणाकखी पडिए अणिहे, एगमप्पाण सपेहए" ।

अर्थः—आणाकखी—अर्थात् जो सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान करने की आकाक्षा वाला है, वह पण्डित—ज्ञानी है और वह अणिह—स्नेह रहित अर्थात् राग रहित है, उपलक्षण से रागद्वेष रहित है । एक आत्मा का ही सम्यक् प्रकार से पर्यालोचन करता है ।

आत्म स्वरूप को प्रकट करने के रसिक हो निर्वाण के साधक है और जो पुद्गल सुख की अभिलाषा वाले जन हैं वे तपोनियमादि करते हुये भी निर्वाण के साधक नहीं है, ऐसा आचाराग सूत्र का आशय है । अतः मोक्ष मार्ग कहते है ।

जीवादिसद्दहण सम्मत्त तेसिमधिगमा नाण ।
रागादि परिहरण चरणं एसो उ मुक्खपहो ॥८॥

व्याख्याः—वास्तव मे मोक्ष के हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है । जीवादि पदार्थो का यथार्थ रूप से निर्द्धारण करना सम्यग्दर्शन है । जीवादि का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है और रागादि के विरह पूर्वक ज्ञानादि प्रवर्तन सम्यक्चारित्र है । अथवा शुद्ध उपयोग का स्वरूप मे स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है । दोनों प्रकार की व्याख्या मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्रमशः निर्द्धारण, भासन और रमण परिणामरूप चेतना के ही परिणमन हैं । जीवादि तत्वों के सत्यरूप से निर्द्धारण रूप ज्ञान है और इस तरह नवतत्व का भासन भी ज्ञान ही है । तथा रागादि रहित जो चेतना है, वह चारित्र भी ज्ञान है । यों रत्न-त्रयीरूप ज्ञान ही परिणत होता है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको एक ज्ञानरूप होना ही सिद्ध होना निश्चित है, अत परमार्थ से ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है ।

जैसे वस्त्र के श्वेत भाव को अन्य वर्ण का ससर्ग आच्छादित कर लेता है, वैसे ही पुण्य व पाप प्रकृतियाँ आत्म स्वरूप को आच्छादित कर लेती है । जीव का सम्यक्त्व गुण जो मोक्ष हेतु स्वभाव है, वह मिथ्यात्व नामक परभाव रूप कर्ममल से ढँका होने के कारण तिरोहित हो रहा है और जो यथार्थज्ञान मोक्ष हेतु है, वह भी परभाव रूप ज्ञानावरणीय नामक कर्ममल से आच्छन्न होने से लुप्त हो रहा है, तथा आत्मा का स्वरूपरमणमय मोक्ष का कारण चारित्रगुण है, वह भी चारित्रमोहरूप परभाव कर्ममल से अवच्छन्न (ढँका) होने से विलुप्त हो रहा है । अत पुद्गल स्कन्ध रूप कर्म परिणमन पुण्य पाप दोनो रूप है । ये दोनों ही आत्मा के अव्याबाध सुखादि को रोकने वाले है । अत अज्ञान ही कर्मबन्ध का मुख्य कारण है । उस अज्ञान को दूर करने के लिये सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । जैसा कि पूज्य हेमचन्द्राचार्य कहते है —

"आत्माज्ञानभव दु खमात्मज्ञानेन हन्यते ।
अभ्यस्यस्तन् तथा तेन येनात्मा, ज्ञानमयो भवेत् ॥"
"स्वल्पज्ञानेन नो तृप्ति, याति दृप्तात्मना मन ।
स्तोक वृष्ट्या यथा तप्ता भूमिरुष्मायते तराम् ॥"

अर्थ —अज्ञान से होने वाला दु ख आत्मा के ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है । इसलिये उसी प्रकार का अभ्यास करना योग्य है जिससे आत्मज्ञान हो ।१। अभिमानी आत्माओं का मन थोडे ज्ञान से तृप्त नहीं होता । जिस प्रकार तप्त भूमि पर थोडी वृष्टि होने से भूमि अधिक उष्म हो जाती है, वैसे ही थोडे ज्ञान से आत्मा में विषय सुख के लिये अभिलाषाएँ उत्पन्न होती है । अत पुण्य प्रकृतियों की इच्छा से जो ज्ञान, तप, व्रतादि करता है, वह मोक्ष के लिये नहीं है, और इन्द्रिय सुख की इच्छा होने से संवर भी नहीं है । इसीलिये पुण्यपाप रूप कर्ममल के पूर्ण

अभाव से ही मोक्ष है, तीर्थंकर नाम-कर्म रूप प्रकृति का बन्ध भी तीव्र संक्लेश-भावराग-भावदयारूप परिणामों से होता है; फिर भी वह परिणाम मे शरीररागत्याग से सवररूप है और सम्यक्त्वीजीव के ही बँधता है किन्तु है तो पुण्य प्रकृति रूप ही । पुण्याभिलाषी कर्म बन्धक ही है । एव स्वात्म धर्म से जो अन्य है, 'वह मैं नहीं हूँ; मै तो शुद्ध, बुद्ध, केवलज्ञान, दर्शनमय, अमूर्त्त, स्वात्मानन्द मे रमण करने वाला, स्वरूप मे विश्राम पाने वाला, और स्वरूप मे ही आसक्त हूँ, इस प्रकार की भावना सवर है और ऐसी भावना वाला वास्तविक सवरी है । अतः स्व-स्वरूप से अन्य जो है, वह मेरा नहीं है । "इस प्रकार के निर्द्धारण, भासन और रमण मे परिणत ही सच्चा साधक है" यह स्थित-सिद्ध हुआ ।

सातावेदनीयादि ४२ प्रकृतियों का न मैं कर्त्ता हूँ और न यह मेरा कार्य है । यह पुण्य तो अनादि काल से परभावमग्न और परभाव करणशील आत्मा के उत्पन्न होने वाले अशुद्ध परिणाम हैं; जो पुण्य बन्ध कराते हैं एव पाप भी । वास्तव मे तो कर्म समूह का अभाव ही करने योग्य है । तत्वार्थ सूत्र मे कहा है —

बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्याम् २।कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष· ३ (अ १०)

अर्थात् बन्धहेतुओं के अभाव रूप सवर और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है ।

अशुद्ध अध्यवसायो और पुद्गल वर्गणाओं से निष्पन्न कर्मदलिको का आवारकत्व और परभाव रूप विपाक ही भेद से पुण्य पाप रूप है । तथा आत्मा के जो रागद्वेष हेतु-भूत सुख दुःख की प्राप्ति अप्राप्ति के समय हर्ष विषाद के परिणाम हैं, यही भ्रान्ति है । अत· पुण्य की आशसादि दोष रहित आत्मा का जिनाज्ञा मे प्रवर्त्तन मोक्ष मार्ग है । कहा है किः-

एव सदैव परभाव विभाव मुक्तः,
शुद्ध स्वभाव रमणाद्भुततत्वचेता ।

स्वधर्म भक्ति नितस्वात्मनि जृम्भते य,
साध्य स एव मुनिभिर्जित राग द्वेपै ॥

अर्थ —इस प्रकार जो शुद्ध स्वभाव में रमण करने वाला तत्व ज्ञानी है, सदैव परभाव व विभाव मुक्त है । और स्वधर्म भोगी का विलास करते है वह अद्भुत तत्त्ववेत्ता है । रागद्वेष को जीतने वाले मुनियों द्वारा ही साध्य है ।

इस प्रकार 'पुण्य पाप परभाव रूप है', इसका सिद्धत्व किया गया ।

इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचितेऽध्यात्म प्रबोधेऽपरनाम
देशनासारे पुण्य पाप वर्णनोनाम तृतीयोऽधिकार ।

॥ निराश्रवात्म-स्वरूप-वर्णन नाम चतुर्थ अधिकार ॥

अब आत्मा का शुद्धकर्तृत्व दिखलाते हुए कहते हैं —

आया ण कम्म कत्ताण, ण कम्मा आयभाव उप्पन्ना ।
पुग्गल सग निमित्ता तच्चाए कह भवे कम्मा ॥१॥

व्याख्या —वास्तव में आत्मा न कर्मो का कर्त्ता है और न कर्म आत्मभावों से समुत्पन्न है, किन्तु पुद्गल सग निमित्त से उत्पन्न है । जब तक आत्मा अपने स्वरूप का भान नही करता, तब तक परभाव पुद्गल-स्कन्धाश्रित शुभाशुभ वर्णादि के भोक्तृत्व रूप से और इनसे इतर आत्म भाव को अभोक्तृत्वरूप से मानता है । और इष्टानिष्ट परिणति से शुभवर्णादि के प्रति राग रखता हुआ और अशुभ के प्रति द्वेष करता हुआ रहता है, तब तक उन रागद्वेष परिणामो के जो स्वक्षेत्र मे व्यापक रूप से है, उन्हीके द्वारा स्वक्षेत्रावगाढ कर्म-पुद्गलों का लोलो भाव से संबध होता है । ये बँधे हुये कर्मवर्गणास्कन्ध ही कर्म कहलाते है । अत अशुद्ध अध्यवसायानुगत योग वीर्यादि परिणाम आश्रव है । जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप व इन्द्रिय कषाय अव्रत योग क्रिया मदरूप

आश्रव है । इससे आत्मा का 'आश्रव' स्वस्वरूप नहीं है, निमित्त रूप है । जव निमित्त का त्याग हो जाता है, तो आत्मप्रदेशों मे कर्म का बन्ध कैसे हो सकता है ? इससे यह सिद्ध हुआ कि आश्रवासक्त के कर्मबन्ध होता है । आश्रवरहित जीव के कर्मबन्ध नहीं होता । अत ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के साथ समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं है, और न रागादि भावाश्रव भी आत्मसमवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है । इससे आत्मा आश्रव वाला नहीं है और आश्रव आत्मा का धर्म नहीं, यह स्थित हुआ ।

यहाँ यह आशय है, कि रागद्वेष मोहादि का आश्रव जीव के अज्ञान रूप परिणाम निमित्त से है । आत्मा मे चेतनत्व होने पर भी चिदाभास रूप मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग, जो पुद्गल के परिणाम हैं, वे ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों के आश्रवण (आने) के निश्चय से निमित्त हैं, और कर्मों के आने का निमित्तत्व अज्ञान मय आत्मा के परिणाम–रागद्वेष मोहादि हैं, अत· (कर्म) आने के निमित्त होने से रागद्वेष मोहादि ही आश्रव हैं वे अज्ञानी के होते हैं । यह अर्थ से ही सिद्ध है ।

अब ज्ञानी के कर्मबन्ध नहीं होता यह स्पष्ट करते हैं :–

णत्थि हु आसव बन्धो, सम्मदिट्ठिस्स मिच्छ पच्चइओ ।
मिच्छत्ताभावे पुण, अन्नाणमओ न बधोत्ति ।।२।।

व्याख्या.—क्योकि सम्यग्–दृष्टि जीव के मिथ्यात्व प्रत्ययिक आश्रव व कर्मबन्ध नहीं होता । मिथ्यात्व के अभाव मे अज्ञान का भी अभाव ही है । अत सम्यग्दृष्टि जीव के अज्ञानप्रत्ययिक कर्मबन्ध भी नहीं है । क्योंकि ज्ञानमय भावों से ज्ञानी के अज्ञानमय भावों का निरोध हो जाता है । ज्ञान अज्ञान परस्पर विरोधी हैं; अत. अज्ञानमय भावों के निरोध से आत्मा ज्ञानी होता है और ज्ञानी के आश्रव का निरोध हो जाता है । इस से ज्ञानी अज्ञान के निमित्त से आने वाले कर्मों को नहीं बाधता ।

जहाँ ज्ञान परिणति है, वहाँ परकर्तृत्व का अभाव ही कहा है, क्योंकि ज्ञान सवर का भेद है ।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है –

सम्मदिट्ठी नाणी उ बँधइ सत्त अट्ठ कम्माइ ।
तो नाणी नो वधइ इय वयण कहय सभवइ ।।३।।

व्याख्या —आगम में सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा गया है और वह सम्यग्दृष्टि, चतुर्थ गुणस्थान स सप्तम गुणस्थान तक सात आठ कर्मों का बन्ध करता है । यह भी आगम मे कहा है । तब ज्ञानी अबन्धक कैसे कहा जाय ? इसका उत्तर देते है –

इग कोडि कोडि उवरिं ठिइ रस वधो अ पगई इगु ।
आल तेसि पएसो वधो मिच्छत्त पच्चइओ ।।४।।
तस्स उ अवधगो से ससारस्स य युग्गया न वुड्डित्ति ।
एसिमबधणेण नाणी उ अवधगो भणिओ ।।५।।

व्याख्या —एक कोडाकोडी से ऊपर उन प्रकृतियो का रस बन्ध न होने तथा सोलह मिथ्यात्व प्रत्ययी प्रकृतियाँ और पच्चीस तिर्यग् कोटि का प्रकृतियाँ है, यो इकतालीस उत्तर प्रकृतियो का सम्यक्त्वी ज्ञानी बन्ध नही करता । इस कारण से ज्ञानी को अबन्धक कहा है, यद्यपि शेष सतत्तर (७७) प्रकृतियो का बधक होने पर भी अनन्त पुद्गल-परावत रूप संसार का छेद कर देने पर और अर्द्ध-पुद्गल परावर्त जितना ससार बाकी रहने पर भी जिसको सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, वह आत्मा बहुत बार अनेक प्रकृतियाँ बाँधता हुआ भी और किसी समय विराधनादि दोषों की अधिकता होने पर भी अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्त से अधिक ससार भ्रमण नही करता, अत अभिनव ससार वृद्धि का अबन्धक होने से अबन्धक कहलाता है, क्योंकि एक बार भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने वाला जीव

अनन्त ससार के मूल को छेद देता है । इस कारण से अबन्धक कहा है।

पुन. स्पष्ट रूप से विचार करते हैं.—सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान के चरम समय मे सर्वजघन्य कषाय है, ऐसी आम्नाय है—परम्परा की मान्यता है और मिथ्यात्वादि गुणस्थानों मे कषाय की उत्कृष्ट तथा ऊपर के गुणस्थानों मे तरतमता (कमोवेशी) रहती है । इसमे क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं कि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान मे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयी की निर्मलता होने से चेतना वीर्यादि के अविभाग वाले, स्वरूप साधन का अनुगमन करने वाले जीव बहुत हैं और कषायानुगाढ जीव थोडे है । इसी से सूक्ष्म–सम्पराय जघन्य कषाय वाला जानना चाहिये ।

मिथ्या–दृष्टि जीवों के सर्व प्रकार का क्षयोपशम कषायोदय युक्त ही होता है और सम्यग्दृष्टि जीवों के जितना क्षयोपशम होता हैं, उसमे मन तत्वरुचि, तत्वभासन और अर्हदादि के अवलम्बन पूर्वक प्रशस्त कषाय युक्त अवश्य है; परन्तु जितना क्षयोपशमादि स्वभाव वाला स्वभाव के सम्मुख है, उतना कषायोदय मे नहीं, अत. उसके बन्ध नहीं होता । और इसी कारण यथार्थ ज्ञानानुगत के वीर्यान्तरायादि का भी बन्ध नहीं होता । अत. सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के अज्ञान प्रत्ययिक बन्ध नहीं होता है । ज्ञान जितनी देर अविभागरूप से स्वगुण या गुणी आदि मे वर्त्तमान रहता है; तब तक कषायानुगत नहीं होता और वे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधनोद्यत रहते हैं; अत. अभिनव कर्म नहीं बाँधते हैं । उससे ज्ञानी के अज्ञान प्रत्ययिक और मिथ्यात्व प्रत्ययिक दोनों बन्ध नहीं है; क्योकि सर्वप्रदेशों मे सर्वथा अविभाग रूप से मिथ्यात्व का उदय नही है, अत. मिथ्यात्व प्रत्ययिक बन्ध भी नहीं होता, यह जानना चाहिये ।

यहाँ शिष्य से प्रश्न करवाते हैं कि–सम्यग्दृष्टि जीवो के अप्रत्याख्यानादि कषायोदय के सद्भाव मे, क्षयोपशम सम्यक्त्वादि मे क्या उनका–अप्रत्याख्यानादि कषाय का उदय नहीं है ? यह बतलाइये ?

यहाँ कहते कि सर्व आत्म प्रदेशों मे मिथ्यात्व के विपाक का अभाव होने पर क्षयोपशमसम्यक्त्व रहता है और प्रदेश से मिथ्यात्व–दलिकों का उदय है, पर वह नीरस होने से सम्यक्–श्रद्धा का (सम्यक्त्व) रोधक नहीं है । और सम्यक्त्व–मोहनीय का उदय विपाक से है । मिथ्यात्व के ही जो पुद्गल सम्यक्त्व–मोहनीय के द्वारा लाये गये है, वे रस सहित है । शकादि अतिचारों के रूप में उनका विपाक होता है । उपशम सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वादि सप्त–"मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ" प्रकृतियों के विपाक और प्रदेश से उदय के अभाव के कारण निरतिचार श्रद्धा वाला होता है । सम्यक्त्व से गिरने वाला कालादि क्षय से सत्तागत दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों के उदय से गिरता है । क्षायिक सम्यक्त्व वाला तो उपर्युक्त सात प्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाने से निरतिचार और अप्रतिपाति होता है । अत उसके इन प्रकृतियो का कभी प्रादुर्भाव नही होता है । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, इन तीन कर्मो का क्षयोपशम सर्व प्रदेशो में है पर सर्वाविभाग पर्यायो मे नही है । सर्वाविभाग पर्यायों मे इन ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मो का क्षय हो जाने पर ज्ञानादि गुणों का पूर्णत प्रकाशन क्षायिक भाव में ही होता है । चार अघातिकर्मो–'वेदनीय नाम गोत्र और आयु' का क्षयोपशम भाव मे क्षायिक में ही प्रकटता है । चरित्रमोहनीय विषयक स्वच्छता बनी ही रहती है । गुणो की अविभाग रूप से (पूर्ण रूप से) निरावरणता नहीं । और प्रत्याख्यानावरण के अनुदय मे कितने ही चारित्र गुणो का अविभाग (पूर्ण) आविर्भाव हो जाता है । सज्वलन के अनुदय में सयम की अविभाग वृद्धि के क्रम से संयम स्थानो के भेद होते हैं ।

ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम मे मत्यादि ज्ञान की अविभाग निर्मलता होने पर भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में चेतना पर पूर्ण आवरण नही होता, किन्तु विपर्यासादिभाव मे परिणमन होता है, उससे

अभिनव कर्मो का ग्रहण हो जाता है । सम्यग्दृष्टि की चेतना तो विपर्यास भाव मे नहीं परिणत होती, किन्तु कषायोदय होने पर कलुषता आजाती है और इससे गति आदि कर्मो का बन्ध होता है; तथापि अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के अभाव मे अर्द्धपुद्गल-परावर्त्तन काल से अधिक ससार की वृद्धि नहीं होती । सम्यक्त्व से पतित हुये जीव को अनन्तानुबधी का उदय होने पर भी बिधे हुए मोती के जैसे कदाचिद् उस मोती का छिद्र बन्द हो जाने पर भी उसे खोलने मे कठिनता नहीं होती, वैसे ही उस सम्यक्त्व पतित जीव के भी ससार वृद्धि नहीं होती और अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन रूप काल मे ही हानि वृद्धि का सद्भाव रहता है । जैसे मरीचि के जीव ने सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होने पर उक्त गुणों के अनुमोदन से ही अल्प ससारता करली थी । अर्थात् सात आठ भव प्रमाणतुल्य ससार भ्रमण धर्म न होने पर भी 'मेरे पास भी धर्म है' ऐसी प्ररूपणा करने से कोडा-कोडी सागर पर्यन्त ससार भ्रमण किया । ऐसा देखा जाता है और इससे भी अधिक ससार वृद्धि होने की सभावना है; किन्तु वह योग्यता प्रदेश रूप है । विपाक रूप से तो एक कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण ही है । इस प्रकार सर्वत्र योजना कर लेनी चाहिये । इससे अभिनव ससार का अपुनर्बन्धक होने के कारण सम्यग्दृष्टि 'ज्ञानी' अवन्धक कहा जाता है । यह साराश है । ऐसा 'षष्टिशतक'' मे कहा है । सब जगह यही समझे ।

भावो रागादिजुओ जीवेण कओ उ बधगो भवई ।
रागाइ विप्पमुक्को अबधगो जाणगो नवर ।।६।।

व्याख्या—यहाँ यह निश्चित है, कि ज्ञान वीर्य क्षयोपशमरूप भाव जो राग द्वेष मोह सम्पर्कज हैं; वे लोह उपल सम्पर्कजवत् कालायस (लोह) सूची कर्म करने के लिये आत्मा को प्रेरित करते है अर्थात् [illegible]रणा करते है । तथा रागद्वेषमोहादि के अभाव मे ज्ञानवीर्य

क्षयोपशम रूप विवक से उत्पन्न भाव जो ज्ञान रूप भाव है, वे लोह और उपल के विवेक से उत्पन्न के समान है, वे कर्म न करने को स्वभाव से ही आत्मा को स्थापित करते है । इस कारण से रागादि सकीर्ण अज्ञानमय आत्मा ही कर्तृत्व मे प्ररक होने से बन्ध करता है । रागादि से असकीर्ण विप्रमुक्त आत्मा बन्धक नही है । अत ज्ञानी को अबन्धक माना है । ज्ञानी सदा ज्ञायक भाव का कर्त्ता है । वह द्रव्याश्रवो से गार्द्ध्य भाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह तो निराश्रव ज्ञायक भाव का भोक्ता है । तब 'ज्ञानी सवथा अबन्धक है' ऐसा प्रश्न करने पर यथार्थता करने के लिये कहते है –

नाणीवद्दट्ठ भावणाय तो णो उ बधगो भवइ ।
जे हु कसाइया हेयवो तेसि सगेण बधइ ॥७॥
कलुसीकय चेयणया सवधती वि दव्वकम्माई ।
तेण बधो अबधो भणिओ सम्मत्त ठाणाओ ॥८॥

व्याख्या —सम्यग्ज्ञानी जीव जीवादि पदार्थ समूह को जैसा है, वैसा जानता हुआ बन्धक नही होता, क्योकि सम्यग्ज्ञान वाल के बन्धकत्व का अभाव है । जो कषायादि हतु और उनके सग से कलुषी कृत चेतना युक्त जो है, वही द्रव्यकर्म बाँधता है । अत ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म समूहो से ज्ञानी बन्धक और अबन्धक कहा गया है । और सम्यक्त्व स्थान से सयोगी स्थान के चरम समय पर्यन्त यह स्थिति रहती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि अनादि से जीव के चेतनादि भाव जो मिथ्यात्वादि हेतु परिणत है, वे ही अभिनव कम के बन्धक है । जैसे-जैसे हतुओं की निवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे बन्ध की भी निवृत्ति होती है । जैसा कि कमग्रन्थ मे कहा है —

चउ मिच्छ मिच्छ अविरइ, पच्चइया साय सोल पणतीसा ।
योग विणु पच्चइया-हारग जिण वज्ज सेसाओ ॥५३॥

(च कर्मग्रन्थ)

व्याख्या.—सातावेदनीय का वन्ध मिथ्यात्वादि चारो हेतुओं से होता है । नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियो का वन्ध मिथ्यात्व मात्र से होता है । तिर्यञ्चत्रिक आदि ३५ प्रकृतियो का वन्ध मिथ्यात्व और अविरति इन दो हेतुओं से होता है । तीर्थकर और आहारक-द्विक को छोड कर शेष सव (ज्ञानावरणादि पैसठ) प्रकृतियो का वध मिथ्यात्व अविरति और कषाय इन तीन हेतुओं से होता है । अतः शुद्धनय से स्वरूप को ग्रहण करना चाहिये । जैसा कि कहा है.—

सम्प्राप्य शुद्ध सुनय हतमूलदोषमेकाग्रामेव कलयन्ति स्वरूप रूपात् ।
रागादि मुक्त मनसस्सतत भवन्त पश्यन्तु बन्धविघुर निजमात्मभावम् ॥

(समयसार कलश १२०)

अर्थः—मूलदोषों-रागद्वेष मोहादि को नष्ट करके, और अपने रूप से एकाग्रता करके, इस प्रकार शुद्ध भाव को प्राप्त करके रागादि से मुक्त मन वाले आप सव सदा अपने आत्मभाव को देखिये । जीवा जीवादि नवतत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का उपयोग (ज्ञान) शुद्ध नय है, और शुद्धनय उपयोग है । वही सवर है । शुद्ध नय को न जानना अज्ञान है और वही आश्रव है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जितना शुद्ध नय ग्राही है, उतना मात्र सवर है । उत्तराध्ययन मे भी कहा हैः—

भूअत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सह संमुइआ आसव संवरे अ रोएइ उ निसग्गो ॥१७॥
जे जिणुदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहइ सयमेव ॥
अेमेव नन्नह त्ति अ निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥१८॥

—श्रीउत्तराध्ययन २८ वाँ अध्ययन

अर्थः—जिसने यथार्थ रूप से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, , निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नवतत्त्वों को स्वबुद्धि से परोपदेश के

विना अथवा जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा जान लिया है । स्वाभाविक ही इन तत्वों के प्रति रुचि है, वह निसर्ग रुचि कहलाता है जो जिनेश्वर देव द्वारा कहे गये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों की स्वयमेव श्रद्धा कर लेता है कि 'ये ऐसे ही हैं', अन्यथा नहीं, उसे निसर्गरुचि जानना चाहिये ।

वास्तव मे शुद्धनय आत्मा के शुद्ध स्वरूप और अनन्त ज्ञानानन्दादि गुणों का ग्राहक है । एक कार्य मे प्रवृत्त अनन्त पर्यायो के समुदाय को गुण कहते है । एक आत्मा एक समय मे भासन, रमण, भोक्तृत्व, सुख, अगुरुलघु, अव्याबाधादि अनन्त कार्यापन्न भावो को करता है । और वे गुणपर्याय नित्य अनित्यादि अनन्त स्वभाव रूप से परिणत होते हैं । अत एक भी पर्याय अनन्त स्वभावमय है । शुद्धनय से यह आत्म स्वरूप है । उस स्वरूप का ग्रहण शुद्धनय करता है । श्रद्धान ज्ञान रमण अनुभव रूप से एकत्व करना सवर है । यह विचार करना चाहिये कि जो आत्मा परानुयायी चेतना से शुभाशुभ तथा परिणत और इष्टानिष्ट रूप से होते हुए परभावों का निर्द्धारण करता हुआ और उनमे रमता हुआ, नये कर्म दलिकों को जो स्वक्षेत्रावगाढ़ है, प्रकृति भेदरूप से परिणत करके शुद्धवीर्य से ग्रहण करता है । अर्थात् आश्रवण करता है, और उसी समय आत्म प्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् एक करता है । अर्थात् बाँधता है । उसी स्वअनुयायी चेतना से परमात्मा, परमभाव के ग्राहक, परमानन्दकन्द, केवलज्ञान, केवल दर्शन उपयोगों से युक्त श्रीमत् अर्हदादि पच परमेष्ठियों के स्मरण, चिन्तन, उनके गुण और ज्ञान का श्रवण, तथा अनुभव में लगा देने पर, शुद्ध आत्मधर्म के श्रवण, चिन्तन व अनुभव में परिणत हुआ अभिनव कर्मो को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, वही संवर है । अत शुद्धनय का ग्रहण सवर है । और शुद्धनय को न जानना अज्ञान है । अज्ञान आश्रव है । जितनी शुद्ध स्वरूप-ग्राही चेतना है, उतनी ही अनाश्रवी है । जैसा कि श्री भगवती सूत्र में कहा गया है —

"तहारूवे समणोवासए तहारूवाण समणाण निग्गथाण फासुएण असणपाण खाइम साइमेण पडिलाभेमाणे कि कज्जति ?

गोयमा ! एगत सो निज्जरा कज्जति, नत्थि से पावकम्मे" इति

यहाँ सत्साधु को दान देने का फल एकान्तरूप से निर्जरा दिखलाया है । यद्यपि श्रमणोपासक के ज्ञानावरणीयादि पाप का वन्ध है और वह कषाय, असयम रूप अन्य परिणति से होता है । न कि यथाविधि दान परिणति से ? इस प्रकार यथार्थज्ञान की परिणति से अवधकत्व है । और शेष आश्रव परिणति से वन्धकत्व है, वन्धकत्व होने पर भी यहाँ तो सम्यग्दर्शनादि रूप से चेतना की परिणति का स्वरूप कहने के प्रसग पर उसका स्वरूप कहना ही युक्त है और वह स्वरूप अवन्धक है । अत· सम्यग्ज्ञान अनाश्रव है ।

इत्थ शुद्धात्मबोधात् स्वसमयरसिक· स्वात्मरामी स्वशीली,
स्याद्वादी तत्वभोगी पर पदविलसत् स्वात्मतालीनशाली ।
स्वीयानन्दाब्धिरामी निजगुण करणा दस्तिता कार्यकारी,
सोऽय बन्ध नवीन न किमपि कुरुते सवरी शुद्धचेता· ॥१॥

अर्थ·—इस प्रकार शुद्धवोध से स्वभाव रसिक, स्वात्मा मे रमने वाला, निज आचरणशील स्यादवादी, तत्वभोगी, परपद–पुद्गलादिभाव के विलय से आत्मा मे ही विलास करने वाला, अपने ही आनन्द–समुद्र मे रमण करने वाला, निजगुणो के करने से अस्तिता का कार्य करने वाला, वह सवरी और शुद्ध चेतना वाला आत्मा कुछ भी नवीन वन्ध नहीं करता है ।

इस प्रकार निराश्रव आत्मस्वरूप का कहने वाला महत्वपूर्ण अधिकार समाप्त हुआ ।

इति श्रीमद्देवचन्द्र गणि सन्दृब्धे अध्यात्मप्रवोधेऽपरनाम देशनासारे निराश्रवात्मस्वरूपवर्णकश्चतुर्थोऽधिकार ।

॥ संवर-स्वरूप वर्णन नाम पंचम अधिकार ॥

अब पचम सवर अधिकार आरम्भ करते है —

आससारविपक्षसवर पदध्वसैक बद्धाशय,
दुस्त्याज्य भवकोट्यसवरकर स्फूर्जद् विभावाश्रयम् ।
प्राचीन पररूपतो नियमित सज्ज्ञानज्योति स्वक,
स्याद्वाद स्वपरावबोधविमल तत्व समुज्जृम्भते॥

अर्थ —ससार पर्यन्त विपक्ष रूप से सवरपद का ध्वस करना ही मात्र जिसका ध्येय है, करोडो भवो तक विभाव का आश्रय लेकर रहता है और अविरति रूप से ही जिसकी किरणे चमकती रहती है, ऐसा आश्रव है । उसको ऐसे प्राचीन पररूप से नियमित किया गया आत्मा जो सज्ज्ञान ज्योति है, उसे प्रकट करने को स्वपर का ज्ञान कराने वाला स्याद्वादरूप तत्वबोध सम्यग् प्रकार से क्रियाशील तत्पर है ।

अव सर्वप्रथम सकल कर्मो के सवरण का श्रेष्ठ उपाय भेद विज्ञान है, उसका अभिनन्दन करते है —

उवओगे उवओगो कोहाइ सु णत्थि कोवि उवओगो ।
आया आयसहावो, णो परभावी कया हवई ॥१॥
अण्णे , जीवा सव्वे, अचेयणा णतसो य पर दव्वा ।
णा ह ते णो ते मे, इय सणाण भेद विन्नाण ॥२॥

व्याख्या —जीव और पुद्गल एक दूसरे के नहीं है । दोनो भिन्न-भिन्न प्रदेश वाले है । अत एस सत्ता सिद्ध नहीं होती । सत्ता एक न होने से आधार-आधेय सम्बन्ध भी नही है, क्योंकि आधार आधेय सम्बन्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है । ज्ञान ज्ञाता में रहता है । ज्ञाता ज्ञान से पृथक नही है । ज्ञान की जानने की शक्ति भी ज्ञान से पृथक् नहीं है । क्रोधादि भी क्रुद्धत्वादि अवस्थाओं में रहते है और उनसे भिन्न नहीं है,

क्योंकि क्रुद्धत्वादि अवस्थाओं मे ही क्रोधादि मिलते हैं । इसी प्रकार विषय-कषायादि कर्म अथवा नोकर्म मे, ज्ञान नही है, विषयकषायादि मे भी ज्ञान नही है । क्योंकि इनके स्वरूप मे विपरीतता होने से पारमार्थिक रूप से आधार आधेय सम्बन्ध भी नहीं है । जैसे ज्ञान का स्वरूप ज्ञातृत्व है, क्रोधादि का स्वरूप क्रुद्धत्वादि है । इसी प्रकार आत्मा व पुद्गलादि पर भावों का स्वभाव से ही भेद है, और स्वभाव भेद ही वस्तु भेद है । ज्ञान और जड का आधार आधेय भाव भी नहीं है । कि च एक आकाश प्रदेश की एक आकाश प्रदेश मे ही रहने की विभावना (विचार) करते हुये, पर आधार आधेयत्व का भाव नहीं होता । एव एक ज्ञान को ही स्वबुद्धि मे अधिरोपण करके आधार आधेय भाव का विचार किया जाता है, तब अशेष द्रव्यों-विषय कषायादि का अधिरोप होने से ही बुद्धि से भिन्न अधिकरण की अपेक्षा उत्पन्न नहीं होती । तब एक ज्ञान मे प्रतिष्ठित विचारते हुये पर का आधार आधेयत्व प्रतिभात नहीं होता । अत· आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान ही है । क्रोधादि तो अशुद्ध ही है । इस प्रकार भेद विज्ञान सिद्ध होता है । और तव भेद विज्ञान से शुद्ध आत्मा उपलब्ध होता है । शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से रागद्वेष मोह के अभाव रूप सवर प्रकट होता है । यहॉ कोई शका करे कि भेद विज्ञान से ही आत्मा की उपलब्धि कैसे हो जाती है ? उसका समाधान करते हैः—

जह कणयमग्गि तविय कणयभाव ण परिच्चयइ ।
तह कम्मोदय तवियो जीवो ण जहइ णाणित्तं ॥३॥
एव जाणइ नाणी अन्नाणी रागदोसमेवाय ।
अन्नाण तमोत्थम्हो आयसहाव अयाणतो ॥४॥

व्याख्याः—जैसे कनक अग्नि से तपाया जाने पर भी कनक भाव को नहीं छोडता, वैसे ही कर्मोदय से तप्त ज्ञानी जीव भी ज्ञानत्व का परित्याग नहीं करता । इस प्रकार ज्ञानी जानता है और अज्ञानी तो अपने आपको रागद्वेषमय जो अज्ञान से उत्पन्न भाव है, उनके कारण आत्मस्वभाव को न

जानता हुआ स्वपर का भेद करने में अशक्त है । अत अज्ञानी बन्धक और ज्ञानी अबन्धक जानना चाहिये ।

जिसको यथार्थ भेदज्ञान है, वह भेदज्ञान होने से ज्ञानी होता हुआ जानता है कि जैसे प्रचण्ड अग्नि से प्रतप्त सुवर्ण सुवर्णत्व का परित्याग नहीं करता, वैसे ही प्रचण्ड कर्म विपाक से मूर्च्छित होने पर भी मूर्च्छित आत्मा स्वरूपत्व को नहीं छोड़ता । क्योंकि हजारो कारणो से भी स्वभाव का परित्याग करना अशक्य है । स्वभाव का त्याग हो जाने से वस्तु मात्र का ही उच्छेद हो जाता है । न तो स्वभाव का त्याग हो सकता है और न किसी वस्तु का नाश हो सकता है, वस्तु सत् है, अत नाश असभव है । एवं आत्मा भी ज्ञानमय होने पर अपने स्वरूप को जानना हुआ कर्मो से आक्रान्त होने से न राग करता है, न द्वेष, न मोह किन्तु शुद्ध आत्मा उपलब्ध होता है । और जिस आत्मा को यथोक्त भेदज्ञान नहीं है, वह भेदज्ञान के अभाव में अज्ञानी होता हुआ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न होने से 'चैतन्य चमत्कार मात्र है, इस आत्म स्वभाव को नहीं जानता हुआ आत्मा को रागमय मानता हुआ, रागद्वेष मोह करता है, उसे कभी शुद्धात्मा का ज्ञान नही होता । अत भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा का ज्ञान होता है । वास्तव में जो सदैव अविच्छिन्न धारायुक्त ज्ञान से शुद्धात्मा को जानता हुआ अवस्थित रहता है, वह सज्ज्ञानमय भाव से संवरमय भाव वाला ही होता है । कर्म आने के निमित्त रागद्वेष व मोह की सन्तान (परम्परा) के निरोध से शुद्ध आत्मा को जानता है अथच प्राप्त कर लेता है । और जो सदा अज्ञान से अशुद्ध आत्मा स्वरूपमय है, और उसी में अवस्थित है, वह अज्ञान मय भाव से अज्ञानमय भाव वाला है । और इस कारण से कर्म आने के निमित्त रागद्वेष व मोह की परम्परा की वृद्धि को निरोध न करने से अशुद्धरूप को पाता है । अत शुद्धआत्मा की उपलब्धि (ज्ञान) से ही संवर है ।

कहते है किः—

"ये यावन्तो ध्वस्तबन्धा भवन्ति, भेदज्ञानाभ्यासएवात्र बीजम् ।
ये यावन्तोऽध्वस्तबन्धा भ्रमन्ति, भेदज्ञानाभावाऽत्र बीजम् ॥२॥

अर्थः—जितने आत्मा ध्वस्तबन्ध (मुक्त) होते हैं, उसमे भेदज्ञान का अभ्यास ही मूल कारण है, और वे जितने आत्मा जो बन्ध का नाश नहीं कर सके है, और ससार मे भ्रमण करते हैं, उनके भ्रमण का मूलकारण भेदज्ञान का अभाव ही है ।

यहाँ पर विचार करना चाहिये, कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, पुद्गलास्ति ओर जीवास्ति, ये पॉच अस्तिकाय हैं । इनमे जीव ही पुद्गल सग निमित्त से कर्मो का कर्त्ता है । अन्य सभी अजीव है । जीव के अपने गुण बन्धक नहीं होते, गुणों की प्रवृत्ति के अभाव मे बन्ध होता है, और जो क्षयोपशम से प्रकटी–भूत मतिज्ञान श्रुतज्ञानादि और वीर्यादि गुण हैं वे शुभ या अशुभ परभाव मे प्रवृत्त होते हैं, तब वे शुभभाव मे प्रवृत्त होते हुये शुभ कर्म का और अशुभ भाव मे प्रवृत्त होते हुये अशुभ कर्म का बन्ध करते हैं । शुद्ध ज्ञानादि मे प्रवृत्त हुये कर्मबन्ध नहीं करते । प्रकट हुये ज्ञानादि गुण जब स्व–स्वकार्य मे प्रवृत्त रहते हैं, तब अबन्धकता रहती है । आत्मा के गुण जो स्वात्म स्वरूप के भासन, रमण और अनुभव मे अप्रवृत्त हैं; और न पहले कभी वे गुण प्रकट हुये हैं । वे ही पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि गुणों मे इष्ट अनिष्ट रूप से परिणत हुये कर्मों के बन्धक होते हैं । मात्र ज्ञान जो ज्ञायकभावपरिणत है, वह बन्ध के लिये नहीं प्रवृत्त करता; किन्तु जो विपर्यास से इष्टानिष्टतया परिणत होता है, वह बन्धन कारक है । मिथ्यात्व अविरति, कषायादि हेतु परिणत चेतना व वीर्यादिगुण अभिनवकर्मो के ग्राहक होते हैं । जो विपर्यास रूप ज्ञानादि परभाव मे रमण करते हुये परभावों को हैं, परलाभादि मे सन्तुष्ट रहते है, परभोगी हैं, परभाव मे आसक्त

और मत्त है, वे बन्ध करते है । इस प्रकार 'कौन बन्धक है'? इसका निर्णय हुआ । अब "परसग से मुक्त बन्धक नही है" इसी को दृढ़ करते है —

जो सव्व सग रहियो, सद्दहइ जाणइ रमइ नियभावे ।
सो णो बधइ कम्म, चेआ चितत्ते णिय भावाइ ॥५॥
अरिहताइसु उवउत्तो, णियसत्ताइसु जो उवउत्तो ।
तदणुगय खओवसमो, ण बधइ बधइ परट्ठो य ॥६॥

व्याख्या —जो आत्मा सर्व परभाव सग से मुक्त है, और अपने स्वभाव मे श्रद्धा करता है । स्वभाव को जानता है, स्वभाव में रमण करता है और अपने भाव को भोगता है, वह कर्म समूह को नहीं बाँधता है । जो आत्मा चेतन स्वरूप का चिन्तन करता है तथा अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के गुणो मे उपयुक्त है अर्थात् चिन्तन मे लीन है, तथा यथार्थ जीवादि तत्वो के स्वरूप ज्ञान मे प्रवर्तमान चेतना वाला अथवा स्वसत्तादि भाव के अवभासन (ज्ञान) मे उपयुक्त है और तदनुगत क्षयोपशमवाला है, उसको चेतनादि अनुगत वीर्यादि है, अत वह कर्म नही बाँधता । अत परभावो के ग्रहण, भोग, रमण आदि अज्ञान मे प्रवृत्त चेतना बध कारक है, यह सिद्ध हो गया । मात्र वही आत्मा जो राग द्वेष मोह मूल, शुभाशुभ योगों में वर्तमान चेतना को, दृढतर भेद विज्ञान के अवष्टम्भ (अवलम्बन) से, आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्यन्तिक रूप से रोक कर शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्म द्रव्य मे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके, समस्त पर द्रव्य की इच्छा के परिहार द्वारा समग्र पर-सग से विमुक्त होकर सदैव निष्प्रकम्प (अचल) है, वह किञ्चिद् भी कर्म-ज्ञानावरणादि, नोकर्म-शरीरादि के रस स्पर्श से वद्ध नहीं होता । *अपने आत्मा को ही आत्मा के द्वारा विचार करता हुआ, स्वय सहज* स्वभाव का चिन्तक होने से, आत्मा के एकत्व का ही चिन्तन करता है । वह निश्चय से एकत्व के चिन्तन द्वारा परभावो से एकदम पृथक् चैतन्य

चमत्कार वाले आत्मा का ध्यान करता हुआ, शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा को प्राप्त हो जाता है, और शुद्ध आत्मा के उपलब्ध होने पर, समस्त परद्रव्यमयत्व को जो अतिक्रान्त करता हुआ, शीघ्र ही आत्मा को सकल कर्मों से विमुक्त कर लेता है, यही सवर का रूप है । इसी कारण से उत्तमजन राज्य का त्याग करते है, गृहवास से निकलते है । विविध प्रकार के तप अगीकार करते है, गुणियो के चरणारविन्द की सेवा करते है । एषणीय आहार के लिये भ्रमण करते है । देशों मे विहार करते हुये वर्षा, शीत, ग्रीष्म आदि कष्ट सहते है । विनय, वैयावृत्य मे रत रहते हुये, आत्मा की शुद्धता करने के लिये विचरते है । "परप्रसग योग से परभावों मे व्यापकता न हो जाय" इसकी सावधानी रखते है, क्योंकि परव्यापकता से ही अनन्त काल से महा नरक, निगोदादि स्थानों मे भटकता रहा है । और अपने परमानन्द, ज्ञानस्थिरता, सुख का अनुभव नहीं किया है । अव मैंने मुक्ति के साधन व कारण प्राप्त कर लिये है, अत. अकृत्यसगी न होऊँ, और जिस प्रयोग से स्वरूप की सम्यक् सिद्धि हो, वही मेरे लिये करणीय है । ऐसा निश्चय करके स्वतत्र-आत्मतत्व मे रमता है ।

जीव के, जव तक 'आत्मा और कर्म की एकता है' इस धारणा के मूल-मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, कषाय और योग रूप अध्यवसाय है, वे ही रागद्वेष मोह लक्षण आश्रव भाव के हेतु है । आश्रव भाव, कर्म का हेतु है, कर्म नोकर्म (शरीर) हेतु, नोकर्म राग-ससार का हेतु है । इस कारण से आत्मा, आत्मा व कर्म के एकत्व अभ्यास से मिथ्यात्व रूप, अविरति रूप व अज्ञानमय ही आत्मा को जानता है । इसी से राग-द्वेष मोह रूप आश्रवभाव की भावना करता है । इससे कर्म का आश्रव होता है और नोकर्म-शरीरादि होते है । शरीरादि राग से ससार-भ्रमण का सामर्थ्य बढता है । और जब आत्मा व कर्म के भेद विज्ञान से शुद्ध चैतन्य चमत्कार रूप आत्मा को जान लेता है; तब मिथ्यात्व, अज्ञान,

लक्षण अध्यवसायों का जो भावआश्रव के हेतु हैं, उनका अभाव

हो जाता है। हेतुओ के अभाव में रागद्वेष मोहरूप आस्रवभाव का भी अभाव होता है। कर्म नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। इस प्रकार संवर का क्रम है।

सम्पद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्म तत्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानमयो हि साक्षात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥३॥

अर्थ —शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति से निश्चय ही संवर की उपलब्धि होती है और संवर भेद-विज्ञानमय है, अत भेद-विज्ञान की अत्यन्त भावना करनी चाहिये।

भेदविज्ञानतो युक्ता, मुक्तानन्ता जिनोत्तमा।
तस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन ॥४॥

अर्थ —भेद-विज्ञान से युक्त अनन्त जीव जिनोत्तम और मुक्त हुये है और भेद-विज्ञान के अभाव से बद्ध होते है। अत जो बद्ध है, वे निश्चय ही भेद-विज्ञान के अभाव के कारण ही बद्ध है।

अत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान बल से, स्वपर का भेद-ज्ञान करके, सम्यक्चारित्र के बल से, स्वरूप का एकत्व और परभाव का त्याग करना चाहिये। परभाव का त्याग होने पर नये कर्म नही आते है। नये कर्मों के अभाव मे स्वरूपानुग तप करने से पूर्व बद्ध कर्मो की सकाम निर्जरा होती है। अनभिसन्धिकृत-मिथ्यात्वादि हेतु समूहो के अभाव मे होने वाला कर्मबन्ध तो थोडा होता है और सम्यग्दर्शन वाले के निर्जरा तो अधिक होती ही है। आवश्यक निर्युक्ति मे कहा है —

पल्ले महे महल्ले कुभं पखिवइ न सोरइ नालिं।
इय मिच्छत्ती जीवो बंधइ बहुयं खवइ अप्पं ॥१॥
पल्ले महे महल्ले कुभं पखिवइ सोहेइ नालिं।
इय सम्मती जीवो बंधइ अप्पं खवइ बहुयं ॥2॥

अर्थः—कोई व्यक्ति बडी भारी कोठी मे घडे भर-भर कर अनाजादि डालता जाय और कभी उसकी नाली न खोले, न साफ करे तो वह कोठी कभी खाली नहीं होती । वैसे ही मिथ्यात्वी जीव बॉधता तो बहुत ज्यादा है, और भोगकर क्षय थोडे कर्म, करता है । इसी प्रकार इससे विपरीत सम्यक्त्वीजीव है, जो ऐसे व्यक्ति के जैसा है, जो बडी भारी कोठी मे डालता कम है और नाली को साफ करता रहता है और कोठी को खाली करता रहता है । सम्यक्त्वी जीव हेतुओं के अभाव मे वन्ध कम करता है और क्षय अधिक करता है ।

अत. सम्यग्दृष्टि के निर्जरा अधिक होने से ससार मे भ्रमण कराने वाले कर्मों का क्षय होता रहता है । सर्व कर्मो का क्षय होने से आत्म स्वरूप का लाभ अर्थात् मुक्ति होती है । ऐसा जानना चाहिये ।

अब तत्त्वार्थ वृत्ति के अनुसार सवर के भेदों का वर्णन करते है.—

आत्मा के कर्मोपादान हेतु-भूत परिणामों का अभाव सवर है । अत जो कुछ भी कर्म आगमन के निमित्त का अभाव है वह सवर है । वह देश, सर्व भेद से दो प्रकार का है । वादर सूक्ष्म योगो के निरोध के समय सर्व सवर होता है । चारित्र स्वीकार से लेकर शेष काल मे आत्मा देश-सवर परिणति वाला रहता है । यहॉ कहते हैं कि यदि सकल आश्रव द्वारों को रोकने रूप सवर है, तब कर्म आने के समस्त निमित्त रूप आश्रव छिद्रों को बन्द करने की इच्छा तो कुछ ऐसे पुरुषों को जो सम्पूर्ण परिस्पन्द-योगचन्चलता का निराकरण करने के इच्छुक हैं, उन्हें ही होती है, अत समचतुस्र सस्थान व वज्रर्षभनाराच सहननादि वाले महान् पराक्रमशाली आत्मा जो कर्म निर्जरा के अभिलाषी और परिपूर्ण शक्तिमान् हैं, वे परिस्पन्द स्वभाव योगो का निग्रह करने का उपक्रम करते हैं और उनके कर्म निवृत्ति होती है । तो फिर इस युग के पुरुषों के तो यथोक्त सवर का अभाव ही रहा । इसका समाधान करते हैं.—वह सवर दो प्रकार का है — १ देशतः २ सर्वतः— सर्व सवर का अभी अभाव

है, देश का नही । वर्तमानकालीन सामायिकादि चारित्रधारियो तत्वज्ञ पुरुषो को जो ससार समुद्र से पार होने के इच्छुक है, उनके योग परिस्पन्द (चञ्चलता) होने पर और प्रधान सवर के अभाव मे भी, जो समस्त प्रमाद स्थानो से दूर रहते है, उनके देश—सवर है ? या सर्व संवर है? इसका प्रतिपादन करने के लिये कहते है —

वह संवर उनके गुप्ति, समिति, धर्मानुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रो स होता है । यह आश्रव निरोध लक्षण कहा गया है । वह किस उपाय से करना चाहिये ? उस उपाय को दिखलाने के लिये यह सूत्र है — "स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परिषहजय चारित्रे ' 'स ' इस सवनाम से प्रक्रान्त सवर का विचार करते है —गुप्ति का अर्थ सरक्षण है, यह सवर करने वाले के लिये करणीय है । गुप्ति करने का उपाय समिति है, जिसका अर्थ है—सम्यगति अथात् सकलक्रियोपलक्षण सर्वज्ञप्रणीत ज्ञानानुसारिणी चेष्टाएँ समितियाँ है । उनसे संवर होता है । नरकादि कुगतियो म गिरते हुये आत्मा को पकडले, गिरने न दे वह धर्म है । जो क्षान्त्यादि दशलक्षण रूप है, अनुचिन्तन अनुप्रेक्षा है, अथवा अनुप्रेक्षा भावना को कहते है । उस प्रकार का अनुचिन्तन या भावनाएँ जिनसे संवर सुलभ हो, अनुप्रेक्षा कहलाती है । ये १२ है । सर्व ओर से होने वाले क्षुधा पिपासादि कष्टो को जो सहन किया जाता है, वे परिषह कहलाते है । परिषहो को जीतना, उनसे अभिभूत न होना परिषहजय है । ये २२ होते है । चारित्र कहते है—अष्टकर्मो के चय-अर्थात् आत्मप्रदेशो से बद्ध कर्म समूह के सचय-सग्रह को खाली करना । वह सामायिकादि पाँच प्रकार का है । जो इन गुप्त्यादि उपर्युक्त उपायो से होता है । प्रस्तुत संवर का सम्बन्ध बतलाने का तद् शब्द का प्रयोग है । यह सवर आश्रवनिरोध लक्षण है, यह मन मे व्यवस्थापित कर लिया कि इन गुप्ति आदि करने रूप उपायो स सवर होता है । अर्थात् सवर का यह स्वरूप है ।

अब ये गुप्ति आदि करण कैसे होते है इसे स्पष्ट करते है । रागद्वेष की परिणति रूप आर्तरौद्र ध्यान से मन को हटाकर व ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों की अभिलाषा का निराकरण करने से मनोगुप्ति होती है और उससे नरकादि के हेतु कर्मो का बन्ध नहीं होगा ।

वचन गुप्ति का स्वरूप यों हैः—जो दुर्वचन नहीं सहन करने, असत्य प्रलाप करने, प्रियवचन बोलने आदि हेतुओं से कर्म बँधते हैं, वे वाग्-व्यापार से विरत-मौनी-वचन गुप्ति वाले या यथोक्त (शास्त्रोक्त) हितमित पथ्य भाषण रूपी वचन से भी, मुक्त होने से नहीं बँधते हैं। वैसे ही कायगुप्ति वाले के भी कायगुप्ति रहित के दौडना, लटकानादि शारीरिक क्रिया करना, अप्रतिलेखित अप्रमार्जित भूमि मे प्रवेश, चक्रमण (घूमना) द्रव्य पदार्थो-वस्तुओं को लेना, देना, रखना आदि निमित्तों से कर्म का आत्मा मे बध होता है, वह कार्योत्सर्गस्थित के अथवा जिसने हिसादि दोषो का परित्याग कर दिया, उस प्रकार की क्रिया नहीं करता और शास्त्र-विहित क्रियानुष्ठान करने वाला है, वह कायगुप्ति वाला होने से उसके पूर्वोक्त निमित्तों से होने वाला बन्ध नहीं होता । इस प्रकार सम्यग्रूप से मनोवाक् काय रूप तीन योगों के निग्रह रूप तीन गुप्तियॉ सवर करने वाली होती हैं ।

समितियॉ भी प्रायः मनोवाक्काय की सम्यग् चेष्टा लक्षण गुप्ति रूप ही है । मनोवाक्काय व्यापार को चेष्टा कहते हैं । समितियाँ पॉच हैः—१.ईर्या समिति २. भाषा समिति ३. एषणा समिति ४. आदान निक्षेपण समिति ५. उच्चार प्रस्रवण खेलजल्ल सिघाण पारिष्ठापनिका समिति, इनमे ईर्या, आदान, और वाग व्यापार निक्षेप और उच्चारादि पारिष्ठापन-(त्याग) तीन समितियॉ काय व्यापार के अन्तर्गत हैं । मनोव्यापारानुयायिनी एषणा समिति लक्षणा भाषा समिति है । इनका जो पृथक् रूप से ग्रहण है, वह अल्पबुद्धि जीवों को सुखपूर्वक ज्ञान होने के लिए है । अनन्तानुबन्ध्यादि भेद वाले क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति से

निग्रह होने पर सवर की प्राप्ति होती है । कही लोभ के निग्रह से मुक्ति कहलाती है । सत्य, त्याग, आकिचन्य और ब्रह्मचर्य–ये चारित्रानुयायी है । सयम सत्रह प्रकार का भी होता है । जिसके भेदों मे से कुछ का समावेश तो प्रथम अहिसा व्रत मे हो जाता है, शेष उत्तरगुणान्तरभूत है । बारह प्रकार का तप तो उत्तरगुणान्तरवर्ती है ही । अनित्य अशरणादि अनुप्रेक्षाएँ–भावनाएँ भी सवर करते हुये हेतुभूत उत्तर गुणानुयायिनी है। परिषह भी जो स्वत आ गये है, सम्यक्रीति से सहन करने के कारण जीते जाते हुये, सवर का आविष्कार करते है, अर्थात् सवर होता है । हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह और रात्रि भोजन, जो सश्लेष विशेष से आने वाले कलुष पाप–कर्म के आश्रव के निमित्त है, उनका निरोध होने के कारण विरति वाले के उन निमित्तों से होने वाले कर्माश्रव का रोध हो जाता है और आधाकर्मादि परिभोग निमित्त से होने वाला कर्माश्रव भी आधाकर्मादि का त्याग होने से नही होता । इस प्रकार इन सब शका दोषों के जाल से विमुक्त, सम्यग्दर्शन पीठ प्रतिबन्ध युक्त, तथा गुप्त्यादि चारित्र मे जिसका मन लगा हुआ है और तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व है, उस प्राणी के मिथ्यादर्शन प्रत्ययिक कर्म बन्ध नही होता । इस प्रकार हेतु त्याग से आश्रव का अभाव, आश्रवाभाव से कर्मो का अग्रहण होता है ।

सम्यक् रीति से योगो का निग्रह गुप्ति है । जो स्व–स्वरूप के पूर्ण अधिपति है, उनके गुण परिणमन रूप समिति का परिणाम है । तथा स्वरूप एकत्व होने पर जो योगवीर्य की स्थिरता है, वही गुप्ति है । अथवा सम्यक् प्रकार से शुद्ध परिणाम वाले मुमुक्षु के योग निग्रहयोगों की अप्रवृत्ति गुप्ति आत्मसंरक्षण है । सारांश कि आगमानुसार राग द्वेष रहित परिणति का सहचारी मनोव्यापार मनोगुप्ति है । ऐसी मनोगुप्ति वाले के वचन गुप्ति और कायगुप्ति स्वत होती है । न कि तस्कर के जैसे जो उग्र गाढ़ बन्धन से बद्ध है और जिसका हृदय–प्रदेश अत्यन्त निपीडित है । वह अपनी पराधीनता नही चाहता हुआ श्वास रोक कर निश्चेष्ट हो

जाता है और अपनी चोरी छुपाने के लिए मृतक सा बनकर सारी शारीरिक क्रियाएँ रोक लेता है ऐसा योग निग्रह यहाँ इष्ट नहीं है । इस प्रकार रागद्वेष रहित परिणति युक्त योग व्यापार के निरोध से सवर सिद्धि वतलाई है । और स्वरूप साधन के लिये विहार आदि के कार्यो मे प्रवृत्ति होने पर भी सवरत्व है ।

समितियाँः—ईर्यासमिति—ईरणम्-ईर्या, अर्थात् गमन को ईर्या कहते है । स्व और पर को बाधा न पहुँचाते हुये चलना ईर्यासमिति है । जैसा कि दशवैकालिक मे उल्लेख है —

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महि चरे ।
वज्जतो बीय हरियाई, पाणे अ दग मट्टिय॥३॥
ओवाय विसम खाणु, विज्जल परिवज्जए ।
सकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे॥४॥

(दश० ५ अध्य० १ उद्देशक)

अर्थः—आगे युग प्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज हरी-वनस्पति, प्राण—विकलेन्द्रिय-जीव, जल तथा सजीव मिट्टी को बचाता हुआ गमन करे ॥३॥ अन्य मार्ग के रहते अवपात-गड्ढे-ऊबड-खाबड जमीन, कटे हुये सूखे वृक्ष या अनाज के डण्ठल, कर्दमयुक्त मार्ग के छोड दें, जल या गड्ढे के पार करने के लिए लकड़ी या पत्थर आदि रखे हुये हों उन पर होकर न जाय ॥४॥

इसी प्रकार सम्यग् भाषा जो आगमानुवर्त्तिनी है, भाषा समिति है ।

"जाअ सच्चा अवत्तव्वा, सच्चा मोसा अ जा मुसा ।
जा अ बुद्धेहि णाइण्णा, न त भासिज्जपन्नव ॥२॥"

(दशवै0 ७ अध्ययन)

अर्थ —बुद्धिमान् मुनि अवक्तव्यसत्य सत्यामृषा—व्यवहारभाषा और मृषा-झूठ, जो पण्डितों द्वारा अनाचीर्ण है, उसे न बोले ।

"महुर निउण थोवं कज्जावडिअ मगव्वी अ मतुच्छ ।
पुव्व मइसकलिय भणति त धम्म सजुत्त ॥"

अर्थ —पण्डितजन आठ गुणो से युक्त भाषा बोलते है । वे गुण है—१ मधुर २ निपुण-चातुर्यपूर्ण ३ स्तोक-थोडे शब्द किन्तु बहु अर्थ युक्त, ४ कार्यापतित-काम पडने पर ५ अगर्व-अभिमानरहित, ६ अतुच्छशिष्टजनयोग्य ७ पूर्व मे बुद्धि से सकलित- अर्थात् विचारी हुई और धर्मसयुक्त-जिससे धर्म की हानि न हो ।

एषणा समिति —आहार, जल, वसति, तथा वस्त्रादि उपधि, दोष रहित ग्रहण करने को एषणा समिति कहते है । दयादि साधनार्थ जिनाज्ञा से गृहीत उपकरण-वस्त्र,पुस्तक, पात्र रजोहरण, दण्डादि को ग्रहण करते या रखते समय देखकर तथा प्रमार्जन करके आदान-लेना, निक्षेप-रखना, आदाननिक्षेपणा समिति है ।

पारिष्ठापनिका समिति —स्थण्डिल-किसी त्यागने योग्य वस्तु को डालने योग्य भूभाग को कहते है । वह कैसा हो उसे बताते है —स्थावर जगम जन्तुवर्जित होना चाहिये । पृथ्व्यादि ५ स्थावर कहलाते है और द्वीन्द्रियादि पचेन्द्रियपर्यन्त जीव जगम है । इनसे वर्जित-रहित स्थान-भूमि पर आँखो से अच्छी प्रकार निरीक्षण और प्रमार्जन करके पुरीष-मल-मूत्र-श्लेष्म शरीर का मल कफ भक्त पान वस्त्र पात्र आदि का विसर्जन-त्याग करना पारिष्ठापनिका समिति है । समिति गुप्तियों का सवरहेतुत्व कहा गया ।

अब कौन सा धर्म सवर का कारण है ? यह बतलाते है —

१ उत्तमक्षमा २ उत्तम मार्दव ३ उत्तम आर्जव ४ उत्तम मुक्ति ५ उत्तमतप ६ उत्तमसयम ७ उत्तमसत्य ८ उत्तमशौच ९ उत्तम आकिंचन्य १० उत्तम ब्रह्मचर्य ।

उत्तम शब्द के ग्रहण से विष गरलादि अन्योन्यदोषरहित, उपकार अपकार विपाकादि हेतुओ से विमुक्त क्षमादि १० धर्म, सवर है और इनसे नये कर्मो का आश्रव-आगमन नही होता ।

इनका स्वरूप इस प्रकार है.—

सहन करने को क्षमा कहते हैं । आपत्ति उपद्रव उपसर्ग आदि होने पर ऐसी भावना करे कि शुभोदय मे भी कर्म विपाक है और अशुभोदय मे भी कर्मविपाक है । ऐसा समझ कर किसी के द्वारा आक्रोश छेदन ताडनादि होने पर क्रोध से उद्धत विचार न करे । वल्कि कोई आक्रोश करे तो विचारे कि वह अपशव्द वोलता है तो मेरी आत्मा का क्या बिगडता है ? आक्रोश करने पर क्या पीडा हुई ? ताड़ना तो नहीं करता । ताडित होने–पीटा जाने पर सोचे कि पीटने से मरण तो नही होता । कदाचित् कोई वध भी करदे तो चिन्तन करे कि प्राण कर्मोदयजन्य हैं, इन्हे त्यागने पर आत्मा का क्या गया ? सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र रूप साधनामार्ग अक्षय रहने पर सब स्वस्थ ही है । यदि दुष्प्राप्य धर्म है, तो सब अपना अपने पास ही है । अतः आक्रोशादि किसी के द्वारा होने पर क्रोध क्यों किया जाय ? समता से रहना चाहिये । विचार करे कि मै क्रोधादि का कर्त्ता नहीं हूँ, न ये मेरे हैं, क्योकि ये मेरे स्वरूप मे सत्तारूप से नहीं है; अत मै इनका स्वामी नहीं हूँ । मै तो स्वसत्तागत क्षमा धर्म का ही स्वामी हूँ । और क्षमा क्रोधादय से आवृत होने पर भी मेरी स्वलक्षण स्वरूप होने से मेरा धर्म ही है । क्योकि क्रोध, चारित्रमोहोदयव्याप्त चेतनावीर्य से गृहीत कर्म–दलिकों की विपाक अवस्थारूप है, वह मेरा कैसे हो सकता है ।

इस प्रकार की भावना से क्रोधोदय की निष्फलता करनी चाहिये तथा क्षमामय होना चाहिये । एव मानोदय को हटाने का प्रयत्न नम्रताभाव से, मार्दव से करना योग्य है । मायोदय का निवारण आर्जव–सरल भाव से करे, और इसी प्रकार लोभोदय के त्याग से मुक्ति–निःस्पृहता की परिणति होती है । जिससे ज्ञानादिगुण दीप्त हो, उसे उत्तम तप कहते हैं । वह सवर रूप है । इसमे स्वगुण भोग की मुख्यता है । स्वगुणों के ऊपर रहे कर्मावरण को तपाना–सुखा देना नष्ट कर देना वह तप निर्जरारूप है ।

इसमे वीर्य-शक्ति की मुख्यता है । तप बारह प्रकार का है —

१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ वृत्तिसक्षेप, ४ रसत्याग, ५ कायक्लेश ६ संलीनता । ये बाह्य तप है । १ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान ६ व्युत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप है ।

उत्तमसंयम—क्षयोपमशम के न होने से जो पर-जड-पुद्गलानुयायी रूप परिणाम है वे असंयम है । साधकरूप से स्वगुणो के बाधक है । उन परिणामो को स्वसाध्य साधन मे परिणत करना संयम है । मनोवाक्काय योग व इन्द्रियो की दुष्प्रवृत्ति का निरोधरूप सयम सवर है ।

उत्तम सत्य—सत्य, मृषावाद विरमण से होता है । वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भाव-सत्य है । तत्पूर्वक वाक्य भी सत्य होता है । जिस आत्म स्वभाव या गुण का जैसा परिणाम है, वैसा होना सत्य परिणति है ।

उत्तम शौच—मानसिक अध्यसायो को शुद्ध रखना । परवस्तु के विषय मे संकल्प विकल्प करने से मन अपवित्र होता है, अत पौद्गलिक पदार्थो के ग्रहण भोग आदि का विचार न करना मानसिक शौच है । इसी प्रकार वाचिक और कायिक पवित्रता के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिये । असत्य भाषण, वचन योग को अपवित्र करता है, तथा शारीरिक असंयम से शरीर अशुद्ध बनता है । तीनो की अशुद्धता से आश्रव और पवित्रता से संवर है ।

उत्तम आकिंचन्य—आत्मस्वरूप के बाधक परभावो के अग्रहणरूप परिणामो को त्याग कहते है । जो साधक अवस्था मे होता है । वस्तुत मै समस्त परभावो का अभावस्वरूप हूँ, "मुझे परभाव का संसर्ग करना योग्य नही" यह भावना से स्वगुणोहपकरणोद्वारा पर भाव का ग्रहण नही करते हुये, पूर्वगृहीत परभाव का अत्यन्त अभाव करने के लिये, बाह्य से सर्वसंगरहितता व अन्तरंग से भी सर्व परभावो का अभोक्तृत्व आकिञ्चन्य है । मुझे जो असंख्यातप्रदेश अमूर्त, चिन्मात्र स्वरूप हूँ, परभावो मे ममत्व और उसका संग करना उचित नही है । अत मै सदा से अकिंचन

स्वरूप हूँ। मैं शुद्ध अध्यात्मस्वरूप परिणामिक स्वभाव, परभावों का केवल ज्ञापक हूँ। अत मै परभावो का न ग्राहक हूँ न रक्षक।

उत्तम ब्रह्मचर्य.—परभावों से उत्पन्न वर्ण गन्ध रस और स्पर्श का भोग-मैथुन है। वही अब्रह्म है। उसका त्याग होने पर ही, आत्मिक आनन्द से एकरूप बने हुए ज्ञानदर्शनचारित्रादि स्वगुणों का भोग होता है। मैं स्वरूप का भोक्ता हूँ। परभाव का भोक्ता नहीं हूँ। स्वभाव भोगरूप ब्रह्मचर्य है, वह मेरा धर्म है। धारण करने योग्य है। अथवा परभावरमण के अभाव से स्वरूप मे रमणरूप तप है। परभावों का अग्रहण होने से त्याग, और परभावों का अरक्षण होने से वास्तविक आकिचन्य है। तथा परभावों के अभोगरूप ब्रह्मचर्य है।

ये दश मुनि धर्म हैं। मुनियो की साधना के रूपों के भेद हैं। इनमे क्षमादि चार चारित्र के परिणाम हैं। तप. सयम सत्य और शौच, ये गुण सकर (मिश्र) परिणाम है। आकिचन्य और ब्रह्मचर्य भी चारित्र के परिणाम हैं। इस प्राकर ये श्रमण धर्म जानने चाहिये। इन गुणों मे परिणमन करता हुआ आत्मा अभिनव कर्म नहीं बाँधता। तथा इन गुणों से परिणत व परिणमन के इच्छुक अपरिणत भी और गुणाभ्यासरसिक, बारह भावनाओं से आत्मा को भावित करते हुये आत्मा भी नये कर्मों के अग्राहक होते हैं।

यहाँ कोई शका करे कि भावनादि मे तो अर्वाक्-पूर्व (षष्ठगुण स्थान से पहले प्रथम द्वितीय तृतीयादि) गुणस्थानवर्ती भी होते है वे अभिनव कर्मों के अबन्धक क्यों नहीं है ? उसका समाधान यों हैः—

जितनी चेतनादि प्राग्भावी क्षायोपशमिकी शक्ति भावनानुयायि भावना हैं उतनी ही अबन्धक है।

श्री भगवतीसूत्र मे कहा है.—

"तहारूवाण समणाण माहणाण तहारूवेण असणपाण खाइमसाइमेण पडिलाभेमाणे कि कज्जति ? एगते सो निज्जरा कज्जति नत्थि से पावकम्मे"

अर्थात्—तथारूप-भगवदाज्ञानुसारी श्रमणब्राह्मण को तथारूप शुद्ध अशन पान खदिम स्वादिम का दान करता हुआ जीव क्या करता है ? उत्तर —वह एकान्तरूप से निर्जरा करता है पापकर्म नही बाँधता।

यहाँ देशविरति श्रावक के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय का ध्रुवबन्धकत्व होने पर भी मुनि को दान देने में प्रवृत्त होने से उपयोग, योग, वीर्यादि का अबन्धकत्व कहा है। शेष शरीरराग, परिग्रहराग, असंयमादि से तो उसके बन्धकत्व ही जानना चाहिये। इस प्रकार भावनादि मे जितनी जीवशक्ति की प्रवृत्ति है, उतनी संवर रूप है, शेष परभावादि मे प्रवृत्त शक्ति बन्धकारक है, यह आशय है।

अब द्वादशभावनाओ का स्वरूप कहते है —

१ अनित्यभावना —द्रव्यो का एकान्तरूप से नित्यत्व अनित्यत्व नही है। सभी द्रव्य, द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य है। सयोगी भाव तो नियम से अनित्यस्वभाववाले है ही। अत ऐसी भावना करनी चाहिये कि ये शरीर, धन, स्वजन भोगादि सभी अनित्य है। इन्हे इष्ट, प्रिय, स्थिर नही समझना चाहिये और न ममत्वबुद्धि रखनी चाहिये। इनकी अनित्यता का विचार या अनुप्रेक्षा अनित्य भावना है।

२ अशरण भावना —संसार मे धन स्वजन कुटुम्बादि, मेरे ज्ञानादि आत्मगुणो के रक्षक नही है। शरण लेने योग्य तो ये स्वरूप रुचि परिणत, स्वरूपज्ञानी, स्वरूपभोगी, स्वरूप मे रमण करने वाले स्वरूपदर्शी आत्मा ही है, जो अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और निर्ग्रन्थ स्वरूप है। इनका अवलम्बन लेकर आत्मा स्वस्वरूप विश्रामी, अव्ययानन्दभोगी, पुद्गलानुभवत्यागी और स्वात्मविभूतिवान् होता है। एवं जन्म-मरण-शील आत्मा के लिये जो स्वयं जन्मजरामरणादि दुःखो से पूर्णतया लिप्त है, यह शरण नही हो सकता। इस प्रकार विचार करते हुये ऐसा सोचना कि 'संसार मे कोई शरण नही है', अशरण भावना है। इस भावना से आत्मा को भावित रखने पर सदैव भयभीत आत्मा की सांसारिक

भावों-मनुष्य या देवसम्बन्धी सुखों मे और गज, अश्व, सुवर्ण, रजत, मणिरत्नादि पदार्थो मे आसक्ति या प्रीति नहीं रहती और वह तीर्थंकर प्रणीत शासन मे कहे हुये विशेष ज्ञान चारित्र आदि में प्रवृत्त होता है। आशय यह है कि ऐसा निश्चय कर लेता है कि "मैं ही मेरा शरणरूप हूँ, अन्य कोई नहीं"? आत्म धर्म की उपासना से ही मुझे सुख होगा !

३. ससार भावनाः—ससार मे ससरण-भ्रमण करते हुए, अनन्तपुद्गलपरावर्त्तन काल से भटकते हुये, मैं किस-किस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ ? व्यवहारराशि को पाकर मैने किस-किस से सम्बन्ध नहीं किया ? सभी अवस्थाओं मे रह चुका हूँ और सभी के साथ सम्बन्ध कर चुका हूँ । यहाँ मोहग्रस्त प्राणी विषयतृष्णा के कारण असह्य दुःखों का अनुभव करते है । वास्तव मे यह ससार जन्ममरण, हर्ष-विषाद, सयोग, वियोग, सुख-दुःखादि द्वद्वमय है । यहाँ दुःख अधिक व सुख स्वल्प है ।

४. एकत्व भावना—यहाँ ससार मे भ्रमण करते हुये सुख नहीं । सुख तो स्वरूप-ज्ञानदर्शन रूप उपयोग के एकत्व परिणमन से है । अर्थात् स्वरूप मे स्थित रहने मे है । मै आत्मा एक हूँ; पर-जड़ सगी नहीं हूँ । वीतराग, वीतद्वेष स्वभाव वाले आत्मा का कोई सगी-साथी नहीं होता ।

५. अन्यत्व भावनाः—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय ये सर्वद्रव्य अजीव हैं । ये सर्व मुझ से-जीव से अन्य भिन्न हैं । जीव यद्यपि अनन्त हैं, पर वे भी सब पृथक् सत्ता वाले होने से मुझ से भिन्न हैं । इस प्रकार अन्यत्व की भावना करने से स्वरूप स्थिति होती है ।

६. अशुचि भावनाः—सभी पुद्गल एक-एक जीव के द्वारा अनन्तवार पहले भोगे हुये हैं । अतः अत्यन्त अपवित्र है । उनमे राग रखने से मैं भी अपवित्र हूँ । तत्वतः चिद्रूप पवित्र है, उसमें रमण ८८। योग्य है ।

७ आश्रवभावना—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग मनोवाक्काय रूप आश्रव है, वे त्याज्य है। मै आश्रवो का कर्ता नहीं हूँ न आश्रव मेरे स्वभाव है।

८ संवरभावना—ज्ञान दर्शन चारित्ररूप परिणाम संवर है। संवर मेरा धर्म है। मै संवरवान् हूँ।

९ निर्जरा भावना—पूर्वबद्ध कर्मों के क्षपण रूप निर्जरा है, वह स्वरूप कहलाता है। यह पूर्वगृहीत और अभिनव कर्मों का क्षय करने के लिए करणीय है।

१० लोक स्वभाव भावना—मैने अजा वाटक न्याय से सारे चतुर्दशरज्वात्मक लोक का अनन्तबार स्पर्श कर लिया है। अतः लोक परिभ्रमण मेरा धर्म नही है। मेरा लोक तो असख्यातप्रदेशो मे अनन्त ज्ञान परिणति परिणामस्वरूप है, और उसका यथार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य सकर सहकार सहजवृत्ति से होना लोक है। यह मेरा धर्म है। अर्थात् आत्मा का अपना लोक असख्यात आत्मप्रदेशमय है। उसमे ज्ञानादिगुणो के पर्यायो का उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर होता रहता है। उस लोक मे ही मुझे रहना है। यही मेरा वास्तविक लोक है। यह लोकस्वभाव भावना आत्मस्थिरता कारक है।

११ बोधिदुर्लभ भावना—बोधि अर्थात् सम्यक्त्व, जो यथार्थ प्रतीतरूप तत्वश्रद्धा है, वह दुर्लभ है।

१२ धर्मभावना—

लब्भइ सुरसामित्तं लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो।
इक्को नवरि न लब्भइ, जिणंदवर देसिओ धम्मो ॥

अर्थ—इस ससार मे भ्रमण करते हुए आत्मा को शुभ कर्मोदय से सुरस्वामित्व, इन्द्रत्व मिल सकता है, और मनुष्यजन्म मे भी प्रभुत्व प्राप्त

हो सकता है । किन्तु तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

आत्मस्वभाव ही धर्म है, और उस धर्म को प्रकट करने मे हेतुभूत धर्म श्रुत और चारित्र स्वरूप है । उसके साधक निर्ग्रन्थादि हैं । देशविरति सर्वविरति के योग्य भगवदाज्ञा पालन व विरति आदि के परिणाम-भाव, अत्यन्त दुर्लभ हैं । ये द्वादश भावनाएँ हैं। आत्मधर्म के साधन के कारण होने से ये धर्मरूप सवर के भेद हैं ।

पदार्थों की परिणति जिस प्रकार परिणत होती है, उसी प्रकार परिणत होती हुई स्थिति होती है । अतः छह द्रव्यों मे से चार-(धर्म, अधर्म, आकाश और काल) द्रव्यों के सदैव अवस्थित परिणति वाले होने से आश्रय नहीं है । पुद्गल द्रव्य की पुद्गलों के स्कन्धरूप से परिणति होती है; तथापि कर्त्तृत्व का अभाव होने से आश्रव नहीं होता । जीव के तो पुद्गल भोक्तृत्वादि परिणति से व अयथार्थ कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि की परिणति से आश्रवता (कर्मों का आगमन) है । उस परिणति के अभाव मे अनाश्रवता है । अत अनादिकाल से खानि[1] में साथ सम्पन्न मिथ्यात्व व असयमरूप से आत्मा का परिणमन होने से परभाव ग्राहकतारूप परिणति है । वही आश्रव परिणति है और परग्राहकता आश्रव है । पुद्गलों का स्वक्षेत्र-आत्मप्रदेशों मे लोलीभाव करना विपर्यस्त है- विरुद्ध कर्त्तृत्व की परिणति है । उससे विरुद्ध अबन्ध रहकर स्वरूप का ग्रहण सवर है, और स्वरूप मे अवस्थिति हो जाना मोक्ष है ।

यथावत् सतोगुण प्राग्भाव लक्षण देशत· मोक्ष है, तथा अयोगिगुण-स्थान के चरम समय मे यही सर्वत्र· मोक्ष है । अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर अयोगीगुणस्थान से पूर्व देशत मोक्ष और चौदहवे गुणस्थान के

---

१ खानि- जैसे खानि मे स्वर्ण के साथ मिट्टी आदि रहते हैं ।

अन्तिम समय मे सर्वत मोक्ष होता है । यही बात आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विमोक्षाध्ययन की टीका मे कही है—

"सपत्ते सम्मत्ते अणाइ मिच्छत्तदोस विणासे ।
तत्तरुइ निद्धारे, अतत्त चाए अ निद्धारो ।।"

अर्थ—अनादि मिथ्यात्व दोष का विनाश होने पर सम्यक्त्व की सम्प्राप्ति होती है । तत्वरुचि का निश्चय, अतत्वरुचि का त्याग होने पर होता है । इसे निर्द्धार कहते है ।

इस वाक्य से आत्मा सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर विरुद्ध निश्चय रूप मिथ्यात्व को त्याग देता है । तत्त्व अर्थात् आत्मस्वरूप मे ही तत्वसारत्व का ही निर्द्धारण करता है, और अतत्व-पुद्गलादि भोग को करता हुआ भी 'इनके त्याग मे ही मेरा हित है', ऐसा निश्चय कर लेता है सम्यग्दृष्टि जीवो की परभाव में प्रवृत्ति तप्तशिला पर पाँव रखने के समान ही है, अतएव परभाव को असारत्व लक्षण जानने से कर्मबन्ध नही होता । यह ४१ प्रकृतियो का अबन्धक है । इसके नरक, तिर्यक् गति में जाने के हेतुभूत आश्रव का निरोध करना, इतना संवर है । कर्म स्थिति में भी मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम की स्थिति में से ६९ कोटाकोटि का अबन्धक है । सम्यग्दृष्टि भावना रखता है, कि सर्व पौद्गलिक परभाव मेरे नही है, न मै उनका हूँ । 'परभाव से संसर्ग रखना ही ससार है । इस प्रकार के परिणाम और संसार का उच्छेद करने वाली रुचि वाला व्यक्ति, परभाव के एकत्व रूप को उत्पन्न करने वाले कर्म का आश्रव नही करता, अत उसके उतना तो संवर है ही ? बँधती हुई सब प्रकृतियो मे उत्कृष्ट एक कोटा-कोटि सागरोपम का ही बंध है । अत प्रथम सम्यक्त्व संवर है ।

द्वितीय सम्यग्ज्ञान संवर है । यह विपर्यास भासन (गलत समझ) के नष्ट होने पर यथार्थ भासन प्राग्भाव में सम्यग्ज्ञान है । उसमे शुद्धदेव,

शुद्धगुरु और शुद्धधर्म के भासन से अशुद्ध देवादि मे प्रवृत्ति नहीं होती। सर्व ज्ञेय पदार्थो का यर्थाथ अवबोध ज्ञान का स्वधर्म है। अतः जिस ज्ञान गुण का जो कार्य है, वह वैसा करता हुआ, नये कर्मो का आश्रय नहीं करता। यों यथार्थ ज्ञान भी सवर है। तथा सम्यक्चारित्र सवर स्वरूप रमण मे एकत्व स्थिरता लक्षण चारित्र रूप है। स्वरूपाभिलाषियों के परभाव का त्याग होता ही है। पूर्व ही परभाव का त्याग होने पर स्वरूप-रमणता मे नये कर्मो का ग्रहण नहीं होता; अतः सम्यग्चारित्र के परिणाम सवर हैं। वहाँ ऐसी भावना रहती है कि ये पुद्गलादि परभाव मेरे नहीं हैं, न मैं इनका स्वामी हूँ। इस प्रकार के उपयोग से आत्मा को परभावों के ग्राहकत्त्व मे नहीं लगाता। भिन्न स्वभाव वाली भावना से आत्मा व जड को भिन्न करने मे तत्पर रहने और पर का त्याग होने से तद्धेतुक कर्मवन्ध भी नहीं होता। इससे चारित्र भी सवर है। अतः शुद्ध आत्मा के उपलम्भ. (प्राप्ति) से ही सवर है; क्योंकि जब यह आत्मा धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता हुआ रहता है; और आत्मा आत्मा को आत्मज्ञान से आत्मार्थ आत्मा से आत्मा मे परिणत करता रहता है; तब सवर परिणत आत्मा नये कर्म स्कन्धों को ग्रहण नहीं करता है। यह सवर किस प्रकार से होता है इसे स्पष्ट करते हुये कहते है-

"अय्याण मय्यणा हाविऊण थभीऊण सुभासुभेहि हेउहिं।
दसण णाणम्मि ठिओ इच्छा रहियो पर पयमि॥७॥
जो सव्व सग रहियो झायइ अय्याण मय्यणो अय्या।
णवि कम्म सोकम्म आयाणाएइ एगत्ते ॥८॥

व्याख्या—जो प्राणी-साधकजन रागद्वेष मोह मुल शुभाशुभ बन्ध हेतु स्थान मे वर्त्तमान दृढ़तर भेद-ज्ञान के आधार से आत्मा उन हेतुओं मे अवस्थित आत्मा को आत्मा मे ही दृढ़ता से स्थापित करके-शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप आत्मद्रव्य मे भली प्रकार से प्रतिष्ठित करके, समस्त परद्रव्यों की

अभिलाषाओं के त्याग द्वारा समग्र संग से विप्रमुक्त होकर सदैव भाव से निष्प्रकम्प होता हुआ किञ्चिद् भी कर्म और नोकर्म का रस स्पर्शादि न करता हुआ, आत्मा को आत्मा में ही ध्याता हुआ, स्वयं सहज चेतन होने से एकत्व का ही चिन्तन करता है । वह निश्चय से एकत्व चिंतन से परभावों से पूर्ण विभक्त, मात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा का चिन्तन करता हुआ, शुद्ध दर्शन, ज्ञान मय आत्मद्रव्य को प्राप्त करता है । शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होने पर समस्त परद्रव्यमयत्व को अतिक्रान्त (उल्लघन) कर देने वाला सवरी हो जाता है । उस सवर के साथ एकत्व होने से शुद्ध ध्यान में एकाग्र और पूर्वोदय में अव्यापक होता हुआ, शीघ्र ही सकल कर्मों से मुक्त आत्मा को प्राप्त हो जाता है ।

कहा भी है कि-

निज सहज समाधो शुद्धसज्ज्ञानशक्त्या,
प्रकटति ध्रुवमेषा वस्तुतत्वोपलम्भ ।
अचलित निजभावे भिन्न भूत परेषु,
न भवति नवबन्ध क्षीयते पूर्वकर्म ॥५॥

अर्थ—शुद्ध सम्यग्ज्ञान की शक्ति से निज सहज समाधि मे लीन इन साधक जनो को निश्चय से वस्तुतत्त्व (आत्मा) का ज्ञान प्रकट हो जाता है और समस्त पर-जड-कर्म भावों से भिन्नता हो जाती है । फलस्वरूप नया बन्ध नही होता और पूर्वकर्म का क्षय हो जाता है ।

जब तक आत्मा के साथ जीव और कर्म के एकत्व के विश्वास अध्यासमूल मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान और योगलक्षण अध्यवसाय हैं । वे रागद्वेष मोहलक्षण आश्रव भाव के हेतु हैं और आश्रवभाव कर्म के हेतु हैं । कर्म शरीरादि विपाक-फल के हेतु है तथा शरीरादि का राग ससार का कारण है । अत यह आत्मा सदा ही कर्मों की आत्मा के साथ एकता के मिथ्या निश्चय से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, कषाय, प्रमाद और योगमय आत्मा को जानता है । अर्थात् "यही मैं हूँ" ऐसा भान होता है ।

इसी अज्ञान के कारण रागद्वेष मोहरूप आस्रवभाव से आत्मा को भावित करता रहता है । इससे कर्मो का बन्ध होता रहता है और जीव शरीरादि धारण करता हुआ ससार भ्रमण की परम्परा बढ़ाता है । जब आत्मा तथा कर्म के भेदविज्ञान से शुद्ध चैतन्य स्वरूपमात्र आत्मा को जान लेता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग लक्षण अध्यवसाय व आस्रव भाव के हेतुओ का अभाव हो जाता है । फलस्वरूप रागद्वेष मोहादि नही होते । इनके अभाव मे कर्म नोकर्मादि-शरीरादि का अभाव होता है । कर्म नोकर्मादि के अभाव मे क्रमश ससार भ्रमण घटता है । इस प्रकार से सवर का क्रम है । कहा भी है -

"सम्पद्यते सवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्वस्य किलोपलम्भात् ।
सद्भेदविज्ञानत एव तस्मात्, तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ।६।

अर्थ.—शुद्ध आत्मतत्व के ज्ञान से, जो उत्तम भेदविज्ञान से होता है; ऐसे उस उत्तम भेदविज्ञान से ही साक्षात् सवर प्राप्त होता है। भेदविज्ञान की सदैव भावना करनी चाहिये ।

"भावयेद् भेदविज्ञान—मिदमच्छिन्नधारया ।
तावद् यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥७॥

अर्थ.—यह भेदविज्ञान तब तक अविच्छिन्न धारा से करना चाहिये, जब तक कि अज्ञान से हटकर ज्ञान मे प्रतिष्ठित नहीं हो जाय ।

"इत्येव प्रविभज्य स्वात्मपरता तत्वैकता ये गता,
स्तेषा चेतनता न याति परता शुद्धात्म भावे रता. ।
सन्तस्ते न लभन्ति कर्मपटल पूर्व दहत्यञ्जसा,
शुद्धस्वीयसमाधिसाधनपरा. सिद्धि रमन्तेतराम् ॥८॥

अर्थ·—यों आत्मा और पर-जड कर्म नोकर्म आदि का उक्त प्रकार से अपने आत्मा से पूर्णतया भेद करके जो साधक तत्व आत्मतत्व की एकता को प्राप्त होते है, वे शुद्ध आत्मभाव मे रम जाते है और उनकी चेतना पर-जडभाव को प्राप्त नहीं होती । ऐसी स्थिति मे होने से

कर्मपटल-समूह का आना रुक जाता है और पूर्वसञ्चित कर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते है । इस प्रकार अपनी शुद्ध समाधि साधन मे तल्लीन रहने वाले परमसिद्धि मे रम जाते है ।

॥ इति श्री अध्यात्म प्रबोध अपरनाम देशनासार ग्रन्थ
का पॉचवाँ सवराधिकार ॥

• • • • • • • • • • • • •

॥ निर्जरा-स्वरूप वर्णन नाम षष्ट अधिकार ॥

अब निर्जरा का स्वरूप दिखलाते हैं -

मिथ्यात्वाश्रवबारणान्निजपदे तिष्ठन् पर सवर,
रागद्वेषविमोहरगरहितो भुञ्जन् विपाक स्वकम् ।
प्राक् सत्तागतकर्मपुजदलने तत्त्वैकता सञ्चरन्,
या कर्मक्षयकारणा परिणति स्सा निर्जरा गीयते ॥१॥

अर्थ —आत्मा जिस समय मिथ्यात्वादि के आश्रव को हटा देने से श्रेष्ठ सवर में स्थित रहता हुआ रागद्वेष विमोह के रग से विहीन अपने विपाक को भोगता हुआ, आत्मतत्व की एकता मे सञ्चरण करता हुआ, पूर्व में सत्तागत कर्म समूह को दलन करने में तत्पर रहता है । उस समय की जो कर्मक्षय करने की परिणति है, वह निर्जरा कहलाती है ।

विरागवान् आत्मा के जो कर्मोदय होता है, वह निर्जरा के लिए होता है । और रागादि के सद्भाव वाले आत्मा के मिथ्यात्व असंयम मय होने से कर्मोदय तथा भोग बन्धनिमित्त हो जाते है । रागादि भावो के अभाव मे कर्म का उदय और भोग दोनों ही सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र परिणत आत्मा के निर्जरा के निमित्त बन जाते है ।

अब भाव निर्जरा का स्वरूप कहते हुये बतलाते है–

कम्मे उवभुजते नियमा जायति सुह व दुक्ख वा ।
तत्त अरागदोसो वेदतो निज्जर कुणइ ॥१॥

अर्थ —कर्मदलिको को भोगते हुये उनके निमित्त से साता या असाता होती है । इन विकल्परूपो को अनतिक्रम से वेदते हुये जीव के सुखरूप या दु·खरूप नियम से परिणाम उदय होते है और वे रति अरति रूप रहते है । उस समय मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि भावो के सद्भाव से भोगे जाते हुये, नये कर्मदलिक मात्र का क्षरण और उन कर्मदलिको से असख्यातगुण नये कर्मदलिको का वन्ध ही होता है, निर्जरा नही होती । अत मात्र बन्ध कहलाता है, और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र वाले आत्माओं के तो रागद्वेषादि मे अव्यापकत्व से व रति अरति के अभाव मे बन्ध निमित्त का अभाव होने से केवल निर्जीर्यमाण निर्जीण होते है; अत· निर्जरा ही होती है ।

अहो ज्ञानस्य सामर्थ्यं विरागस्यैव वा पुन· ।
भुञ्जन्तो कर्मभोगानि तद् भिन्नः सन् न बध्यते ॥२॥

अर्थ.—अहो ! ज्ञान का अथवा विराग का सामर्थ्य देखिये कि आत्मा कर्म के भोगों को भोगता हुआ भी, कर्म से भिन्न होने से नहीं बँधता । इसे उदाहरण द्वारा समझाते है–

जैसे कोई विषवैद्य-जाङ्गुलिक वन्यजीवों का विष जो मार देने वाला है, उसे स्वय चूसता हुआ भी अपनी अमोघ (अव्यर्थ) विद्या सामर्थ्य से विष की शक्ति का निरोध कर देने के कारण मरता नहीं है; वैसे ही ज्ञानी के भी पुद्गल कर्मोदय को भोगता हुआ भी अमोघज्ञान के सामर्थ्य से राग द्वेषादि दोषों का अभाव होने पर रागद्वेषादि की शक्ति का निरोध हो जाता है । फलत बॅधता नहीं । तत्वज्ञानविहीन आत्माओं के रागादि का सद्भाव है अत विपाक का भोग बन्ध का कारण बनता है ।

ज्ञानवान् विरक्त आत्मा के अत्यन्त निर्जरा होती है, उसे बतलाते है –

जैसेमद्य पीता हुआ व्यक्ति यदि अरति से पीता है, तो उसे मद (नशा) नही होता । वैसे ही द्रव्य उपभोग में ज्ञानी को अरति रहने से वह भी बँधता नही, प्रत्युत निर्जरा ही करता है ।

अब पुन इसे ही दिखलाते है –

कुव्वतो वि न कीरइ अकुव्वतो वि को वि कीरइ ।
पगरण चेट्ठाकस्स विण पायरणोत्ति सो होइ ॥२॥

अर्थ—जैसे कोई प्राघूर्णक भय से विवाह के कार्य करता हुआ प्रकरण व्यापार में व्यापार (कार्य) करता हुआ भी प्रकरण स्वामित्व के अभाव में उस प्रकरण का स्वामी नही हो जाता और प्रकरण स्वामी तो प्रकरण कार्य में व्यापार (कार्य) न करता हुआ भी उसका स्वामी होने से वही प्राकरणिक कहलाता है ।

इसे थोडा स्पष्टता से यो समझे—किसी के घर विवाह होता है । विवाह सम्बन्धी विभिन्न कार्य पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को सौप दिये जाते है । वे उन-उन कार्यों को करते व अन्य जनों से करवाते है, परन्तु उसे अपना कार्य नही समझते, क्योकि वे स्वामी नही है । स्वामी तो जिसके घर विवाह है, वही है । और यश अपयश हानि लाभ आदि का भागी भी गृहस्वामी ही होता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि आदि गुणों से युक्त आत्मा भी पूर्व सचित कर्मो का उदय होने पर विषयादि विपाकों का सेवन करता हुआ भी रागादि भावो के असद्भाव मे उनके सेवन में स्वामित्व का भाव न होने से सेवन करने वाला नही है । मिथ्यादृष्टि के तो विषयों का सेवन करते हुये रागादि भावो के होने से सेवन फल का स्वामित्व है, अत सेवन करने वाला है ।

जैसे निर्ग्रन्थों के आहारादि करने पर भी शरीरपोषण के हेतु का अभाव होने से निर्जरा ही है, बन्ध नहीं, यह जानना चाहिये। सम्यग्दृष्टि

तो सामान्यतया अपने को अपना और पर को पर जानता है । यह वतलाते हैं–

उदय विवागो विविहो कम्माण भासियो जिणंदेहि ।
णहु ते मज्झ सहावो जाणग भावी अह सुद्धो ॥३॥

अर्थ —जो जिनेन्द्र कथित कर्मादि के विपाक से होने वाले विविध भाव है, वे मेरे स्वाभाव नहीं है । जो पर पुद्गलानुयायी स्वधर्म मे अप्रवृत्तिरूप बन्धादि अध्यवसाय है, वे मेरे स्वभाव नहीं है । और जो अनादि समवाय सम्वन्ध से स्थित ज्ञानादि स्वगुण है, वे मेरे है । मैं उन ज्ञानादि स्वरूप हूँ । यही टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप मै हूँ । ऐसा जानता हुआ कर्मो से बद्ध नही होता और पूर्ववद्ध को निर्जरा होती है ।

पुन इसी को स्पष्ट करते है–

पुग्गल कम्मनिमित्त, रागविवागोदयो हवइ एसो ।
ण हु ते मज्झ रुहावो, णायग भावो हु अहमिक्को ॥४॥

अर्थः—राग निश्चय से पुद्गलकर्म है । पुद्गलकर्म के विपाकोदय से उत्पन्न यह राग रूप भाव है, तथापि यह मेरा स्वभाव नहीं । मैं तो सोलह बार तपाये हुये शुद्धसुवर्णवत् मात्र ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ ।

इसी प्रकार प्राणातिपातादि (हिसादि) पापस्थान, मनोवाक् काययोग, पॉच इन्द्रियों के विषयग्रहण आदि ये सर्व भी मेरे स्वभाव नहीं हैं। मै तो शुद्ध ज्ञायक परिणामों से परिणत ज्ञानदर्शनादि अनन्त शक्तिमय, अरूपी, अखण्ड, चिदानन्द स्वरूप हूँ । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वय को जानता हुआ और रागादि को छोडता हुआ, नियम से ज्ञान वैराग्य सम्पन्न होता होता है । इसे ही कहते है–

एव सम्मदिट्ठी अप्पाण मुणइ सुद्ध उवओगी ।
सजोगभाव भाव मुच्चइ तत्त वियाणतो ॥५॥

अर्थ —इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्य और विशेष से स्वपरस्वरूप सर्व भावो से विवेचना करके टंकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक स्वभाव वाले आत्म तत्व को पूर्णरूप से जानता है, तथा स्याद्वादपूर्वक यथार्थता से तत्व को जानता हुआ स्व पर भावो का पृथक्त्व करके, स्व के वास्तविक रूप को बढ़ाता हुआ, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न भावो को जानकर, सभी को छोड देता है । तत्पश्चात् वह आत्मा नियम से ज्ञानवैराग्य सम्पन्न हो जाता है ।

सम्यग्दृष्टि स्वमात्मान जानन्नैवात्र बन्धते ।
मिथ्यादृष्टि पर स्वीयमजानात्र बन्धते ॥३॥

अर्थ —सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को जानता हुआ ससार में बँधता नही है । और मिथ्यादृष्टि स्व और पर को न जानता हुआ बँध जाता है ।

यहाँ कोई शका करे कि सम्यग्दृष्टि परभावो का रागी क्यो नही होता ? उसका समाधान करते है –

परमाणुमित्तयं पि हु, रागादीनां तु जो निय वेई ।
ण य सो जाणई अप्पं वेदण नाण सजुत्तो ॥६॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पय वा वि सो अयाणतो ।
कह होई सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो ॥७॥

अर्थ —जो रागादि अज्ञानमय भावो के लेशमात्रभाव को अपना जानता है । स्वसवेदनज्ञान के अभाव के कारण उसका ज्ञान अयथार्थ है । श्रुत के अभ्यास से युक्त होने पर भी वह आत्मा को नही जानता । और जो आत्मा को नही जानता, वह पर को भी नही जानता । स्व सत्ता या परसत्ता इनमे से एक का भी निर्धारण न होने से जो स्वीयआत्मा के और पर-पुद्गल (जड) के भावो को नही जानता, वह जीव अजीव को भी नही जानता । जीव अजीव के यथार्थज्ञान के अभाव मे आत्मा

सम्यग्दृष्टि भी कैसे हो सकता है । आगम मे कहा है :-

"जो जीवे वि वियाणेइ अजीवे वि वियाणेइ ।
जीवाजीवे वियाणतो सो हु नाही इ सजम ॥१॥

("दशवैकालिक ४ अध्ययन")

तथा उत्तराध्ययन मे-

एव पचविहं नाणं दव्वाणय गुणाणय ।
पज्जवाण य नाणेण नाण नाणीहिं देसियं ॥२॥

अर्थ —जो जीव को भी जानता है, अजीव को भी जानता है जो इस प्रकार जीव अजीव दोनो को जानता है, वह सयम को भी जानता है । इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद हैं । द्रव्यों को, गुणो को तथा पर्यायों को जानने से ज्ञानियों ने ऐसे ज्ञान को ज्ञान कहा है ।

इस प्रकार वस्तुतत्व को जानने वाला ही ज्ञानी है, अन्य नहीं ।

"आनादि संसारप्रचारशीला,
न रागादिभावान् स्वकीयान् विजानन् ।
सम्बध्यते कर्म पदैरनेकै
स्तस्माच्च मिथ्यात्वपदं त्यजध्वम् ॥"

अर्थः—जो मिथ्यादृष्टि आत्मा है, वह अनादि काल से ससार मे भटकने के स्वभाव वाला है । और रागादि भावों को अपना जानता हुआ अनेक कर्मपद समूहों से सम्बद्ध होता है । अर्थात् कर्मों से बँधता है । अतः मिथ्यात्व पद को छोड़िये ।

वास्तव मे जो आत्मा अपने अनन्त और अनेकान्तिक भावों को जानता हुआ व स्व से भिन्न सभी परभावो को पररूप जानता हुआ, स्वपद मे पूर्ण रमण करने वाला होता है, वह शुद्ध सवर वाला है और जीर्ण कर्मदलिकों की निर्जरा करता है । शुद्ध आत्मा का स्वरूप आचाराङ्ग सूत्र मे ऐसा बतलाया है:—

सव्वे सरा नियट्टन्ति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अपइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे, न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए, न गुरुए न लहुए, न सीए न उन्हे, न निद्धे न लुक्खे, न काउ न रूह न संगे, न इत्थी न पुरिसे, न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न व विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि (सू १७०)

(लोक । अध्या० ५, उद्देशक ६)

भावार्थ —उस आत्मा को कहने में सभी स्वर असमर्थ है । इस विषय मे-आत्मा के सम्बन्ध में कोई तर्क नही चलता । अर्थात् आत्मा अक्षरो, स्वरो व तर्क से अतीत है । बुद्धि भी उसे ग्रहण नही कर सकती । वह ओज रूप, अर्थात् समस्त मलकलक से रहित है । वह औदारिक शरीरादि से विहीन, अर्थात् सर्व कर्म से मुक्त खेदज्ञ केवल ज्ञानयुक्त है । उसका कोई संस्थान-दीर्घ, हस्व, वृत्त, व्यस, चतुरस और परिमण्डल, नही है । वह आत्मा वर्णरहित है । अर्थात् आत्मा काला, नीला, रक्त, पीला और शुक्ल नही है । वह गन्धरहित-सुगन्ध दुर्गन्ध विहीन है । रस-तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल मधुर रूप नही है । आत्मा का कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध रुक्ष आदि कोई स्पर्श नही है । वह आत्मा सर्व कापोतादि लेश्याओ से रहित है, अथवा काऊ शब्द से शरीर भी लिया जाता है, आत्मा के शरीर नही है । न रुहे अर्थात् पुन उत्पन्न होने वाला नही है । संग रहित है । न स्त्री है, न पुरुष है । न अन्यथा-नपुंसक है । परिज्ञ-सर्वज्ञ-सज्ञ सर्वदर्शी है । उसे समझाने को कोई उपमा नही है । आत्मा की सत्ता अरूपी है । उस अपद का कोई पद नही है, क्योकि आत्मा अमूर्त है ।" इस प्रकार आत्मज्ञानी सर्व परभावो को आत्मा के नही जानता है । आत्मज्ञानी के अनेक का उपभोग होने पर भी, परवस्तु में आत्मभाव नही है । ज्ञान ही

वास्तविक आत्मस्वरूप है । वही आत्मधर्म है । परभाव आत्मा का स्वरूप नहीं । कहा भी है-

"एकमेव हितत्स्वाद्य विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि तत्पुरः ॥५॥

अर्थः—वह आत्मा एक ही स्वाद्य है, जो समस्त विपताओं का स्थान नहीं है । वह स्वय पद रूप है । उसके सम्मुख अन्य सर्वपद अपद भासित होते है ।

"शुद्धात्मभावरसनिर्भर भोगयुक्त,
स्त्यक्तान्य भोग परवस्तुनि निर्विकल्प. ।
स्वात्मावबोध विशदाखिलविश्वभाव.
स्वीय पद विलसति प्रकटात्मयोगी ॥६॥

अर्थः—एक मात्र शुद्ध आत्मभाव रस के भोग से युक्त, और दूसरी परवस्तुओं के भोग को त्याग देने से निर्विकल्प, अखिल ससार के समस्त भावों और आत्मभाव को पूर्णरूप से जानने वाला आत्मयोग जिसके प्रकट हो गया है, ऐसा योगी अपने स्वरूप मे विलास करता है । अर्थात् स्वरूप को भोगता है ।

मइयाइया नाणा सवियप्पा भिन्ननेय विन्नाणा ।
पत्ते केवलनाणे एगमि सव्व विन्नायी ॥८॥

अर्थः—आत्मा ही श्रेष्ठ अर्थ है । और आत्मा तथा ज्ञान गुणी गुण भाव से होने पर भी स्थान परिणाम से एक ही पदार्थ है । अतः ज्ञान भी एक ही पदार्थ है । यही परमार्थ है, साक्षात् मोक्ष का उपाय है । ज्ञान के जो मतिश्रुतादि भेद हैं, वे भी क्षायोपशमिक समय मे ही भिन्न प्रवृत्ति वाले है, परन्तु क्षायिक अवस्था मे निर्मल केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होने पर उसी के अनतर्गत हो जाते है । साराश यह है कि मतिज्ञानादि के रूप मे वही ज्ञान क्षायोपशमिक होने से अशत प्रकट होता है, और केवलज्ञान

का प्रादुर्भाव ज्ञानावरणीय के पूर्णत क्षय होने पर होता है । अत पूर्ण ज्ञान क्षायिक अवस्था मे होता है । निम्न उदाहरण से इसे स्पष्ट समझने में सुगमता होगी-

जैसे गहरे बादलो से ढके हुये सूर्य का प्रकाश उन मेघो के विघटन के अनुसार कम या अधिक अवश्य हो जाता है, पर सर्वथा प्रकाश स्वभाव को बादल नष्ट नहीं कर सकते । वैसे ही आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मपटल का विघटन होने पर उसी के अनुसार ज्ञान शक्ति का प्रादुर्भाव होता है । कर्म आवरण के हटने पर कर्म ज्ञान और अधिक आवरण के दूर होने पर अधिक ज्ञान प्रकट होता है, किन्तु आवरण से ज्ञान सर्वथा नष्ट नही होता । मात्र प्रकाश में कमी बेशी होती है । ज्ञान के भेदो के होने से ज्ञान-स्वभाव का भेद नहीं हो जाता, प्रत्युत वे भेद ज्ञान की विशेषता ही प्रकट करते हैं । अत समस्त भेदों को हटाकर आत्म-स्वभावभूत एक मात्र ज्ञान का आलम्बन लेकर उसी आलबन से स्वपद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति नष्ट होती है । आत्मलाभ होता है, अनात्मभाव का परिहार होता है । कर्म आत्मा को मोहित नहीं करता, रागद्वेष मोहादि दोष उत्पन्न नहीं होते, न कर्म का आस्रव पुनः होता है, और न कर्म आत्मा को बाधित करता है । पूर्व में बँधे हुए कर्म भोग कर या प्रदेश तथा विपाक से निर्जीर्ण हो जाते है और सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाता है । पुन ज्ञान का महत्व बतलाते हैं—

णाण विहीणा न लहति, सवरनिज्जरपय जिणदुत्त ।
तं गिण्हह भो भव्वा जइ इच्छह सिद्धिसब्भाव ॥९॥

व्याख्या —ज्ञान यथार्थ तत्वावबोध रूप है । उस ज्ञान से विहीन जन इस स्वात्मावबोध लक्षण सवर निर्जरापद को जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित है, नही प्राप्त कर सकते । अत हे भव्यजीवो । यदि सिद्धि का सद्भाव चाहते हो तो उस संवर निर्जरात्मक आत्मज्ञान को ग्रहण करिये । क्योकि जब तक आत्म-प्रदेश पर ज्ञान को आवृत (ढकने) करने वाले

ज्ञानावरणीयादि कर्मो का आवरण आया हुआ है तब तक स्व पर को नहीं जान सकता । वह आवरण ज्ञानरुचि से हटता है । आवरण के अभाव होने पर शुद्धज्ञान से ही स्वरूप का प्रकाशन होने से स्वरूप की उपलब्धि होती है । बहुत से साधक बहुत प्रयत्न करके भी ज्ञानशून्य होने से स्वरूप को प्राप्त नही कर पाते । फलस्वरूप कर्मो से भी मुक्त नहीं हो सकते ।

अत· मोक्षार्थी प्राणी को सर्वज्ञ भगवान् के वचनों का अवष्टम्भ (सहारा) लेकर ही आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करनी चाहिये । इस अवष्टम्भ अर्थात् सर्वज्ञोक्त ज्ञान के बिना आत्म स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता ।

पदमिद परतो हि दुरासदं,
सहज तत्वविदा सुलभ स्मृतम् ।
भवतु भव्यजनाः! निजबोधभृत्,
भवति येन महोदय मुत्तमम् ॥७॥

अर्थः—यह आत्मस्वरूप का ज्ञान तत्वज्ञान के बिना अथवा सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य के वचनों से प्राप्त होना दुर्लभ है । सहजतत्वज्ञानियो को सुलभ माना गया है । अत भव्यजनों ! आप आत्मज्ञानी बनो, जिससे उत्तम और महान् उदय हो अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो ।

आयमि रओ णिच्च सतुट्ठो होउ आयभावमि ।
णिय धम्मि त्तित्तस्सउ भवदि इह णिय मुत्तम सुक्खं ॥१०॥

व्याख्या-आत्मज्ञानी होने पर अर्थात् शुद्ध अनेकान्त अनन्तगुणपर्याय परिणाम स्वभाव आत्मा के ज्ञानानन्दरूप का निश्चय करके चिदानन्द मे ही सदा रत रहो, उसी मे सन्तुष्ट रहो ! आत्मधर्म के अनुभव मे तृप्त बनो, इस प्रकार आत्मरत, आत्मसन्तुष्ट व अनुभवतृप्त आत्मा को वचनातीत सुख होगा और तब इस आत्मतत्व को स्वय ही देखोगे, और भोगोगे । ऐसा होने पर सर्व परभाव प्रसङ्ग को बाह्य और आभ्यन्तर दोनों

रूप से हटा कर परम आर्य-सर्वज्ञभाषित रत्नत्रयी-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप मार्ग में प्रवृत्ति होगी । यह आत्मज्ञान की महिमा है ।

अब ज्ञानी के पद का ग्रहण क्यों नही होता ? से समझते है, भावना करते है –

जह को वि हु सप्पुरिसो परदव्व मामग नवि कुणइ ।
तह सप्पुरिसो पारय अगिण्हमाणो न वधइ ॥१॥

व्याख्या —जैसे कोई सत्पुरुष परनिश्रित परद्रव्य-धनादि परवस्तु मे यह मेरा है, ऐसी बुद्धि नही करता । वैसे ही सम्यग्ज्ञानादि गुण युक्त सत्पुरुष भी आत्मक्षेत्र के अवगाह से भिन्न अर्थात् 'ज्ञानादि जो आत्म क्षेत्र स्थित है, उनसे भिन्न सभी अग्राह्य है,' ऐसा जानता हुआ कर्मबन्ध नही करता । विपाक के उदय को भोगता हुआ भी उसमे अव्यापक रहता हुआ निर्जरा करता है, यह जानना चाहिये । क्योंकि ज्ञानी जानता है, कि जिसका जो स्वभाव है, वही उस स्वभाव का स्वामी है । अर्थात् सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव के स्वामी है । इस प्रकार तत्व दृष्टि के सहारे या आलम्बन से आत्मा के स्वरूप को अपना धन जानता हुआ, केव स्वरूपग्राही होता है । (परद्रव्य को) यह मेरा नही है, और 'न मैं इसका स्वामी हूँ' ऐसा मान कर उसमे न रमता है, न ग्रहण करता है । यदि परद्रव्य-जो जड कर्म अजीव रूप है, उसे ग्रहण करूँ तो अवश्य अजीव मेरा 'स्व' बन जाय और मै अजीव का स्वामी बन जाऊँ । जीव का स्वामी जीव ही निश्चय से है । अजीव का स्वामी बन जाने से बलात् मेरे भी अजीवत्व न प्राप्त हो जाय । इस विचार से यही एक मात्र भावना करता है, कि मेरा तो केवल ज्ञायक स्वभाव ही अपना है । इसी का मै स्वामी हूँ–अन्य का नहीं । यह मेरा निश्चय है । यह अजीव जड पदार्थ दो टुकडे हो जायँ, या टुकडे टुकडे हो जायँ, अथवा इन्हें कोई ले जायँ, व नष्ट हो जायँ, और जायँ तो जायँ, ऐसा हो जाने पर मेरी

कोई हानि नहीं । क्योकि पर द्रव्य 'मेरा धन नहीं, न मै उनका स्वामी हूँ । परद्रव्य–जड अजीव का है, वही उसका स्वामी है । 'मै आत्मा हूँ, ज्ञानादि धन मेरा है । मै उसी का स्वामी हूँ' यह मै जानता हूँ । इस प्रकार भेदज्ञान की दृष्टि से सर्व परभाव को दूर करके, सर्वथा आत्म रूप मे स्थिर रहता है ।

सामान्यत स्वपर के अविवेक का हेतु अज्ञान है । उसको छोड देने के मन वाले प्राणी को, पुन आत्मा को निर्मल करने के लिए कहते हैं·–

समस्त परद्रव्यों को स्वक्षेत्र से अर्थात् आत्मप्रदेशों से लेकर परक्षेत्र मे स्थापन करने रूप सर्वथा त्याग करना तो अयोगिगुणस्थान के चरम समय तक होता है । इससे पूर्व तो उदय और सत्तागत पुद्गल स्कन्धों का आत्मक्षेत्र मे अवगाहित्व रहना दिखता ही है, तब समस्त परभाव का त्याग कैसे है ? और त्याग के अभाव मे स्वरूप की निष्पत्ति भी कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यो है —

कर्म आत्मा के एक क्षेत्र मे रहे हुये होने से आत्म प्रदेशों मे स्थित हैं । वे आश्रव के हेतु नहीं है । किन्तु जो उदय मे आये हुए विपाक मे तथा इन्द्रियगृहीत वर्णादि मे विपर्यास होने से असयम द्वारा इष्ट या अनिष्ट रूप से व्यापक होने पर अभिनव बन्ध होता है; वह साधनोद्यत के अव्यापक रूप से होता है । अर्थात् साधक उनके उदय या विपाक मे अव्याप्त रहता है । इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं करता, अतः साधक के वे निमित्तभूत परभाव, आश्रव के लिये नहीं होते । और इसी कारण से सम्यग्दर्शनादि गुण परिणत आत्माओं के जितने काल तक निर्जरा होती है, यदि आत्मा से सम्बद्ध पुद्गलमात्र ही बाधक हो जाते है, तो मुनियो के शरीर आहारादि काल मे चारित्र का अभाव ही होने का प्रसग हो जायगा । तथा सिद्धो के एक क्षेत्रावगाह पुद्गलस्कन्धों का सद्भाव होने पर भी ग्राहक रूप से अव्यापकता रहती है । अत· जहाँ भोक्तृत्व है वहाँ ही आश्रवता है । और इसीलिए कहते हैं·—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणियो आन्नाणीण इच्छाइ ।
अहम्मं तेणण गहो अहम्मस्स सुद्धप्पा णायगो होइ ॥१२॥

व्याख्य —इच्छा ही परिग्रह है, जिके परिग्रह नही, उसके इच्छा नही । इच्छा अज्ञानमय भाव तो ज्ञानी के हो नहीं सकता । ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही है, अत ज्ञानी अज्ञानमय भाव में रमण नही करता । इससे ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं होता । अधर्म शब्द से आत्मसत्तागत धर्म से अन्य सभी आत्मापेक्षा से अधर्म ही है । इस कारण परवस्तु की इच्छा से रहित साधक आत्मा, तत्वश्रद्धान–सम्यक्त्व, तत्वभासन–सम्यग्ज्ञान, तत्वरमण–सम्यक्चारित्र मे परिणत, अभिसन्धिज भाव से अधर्म के ग्राहक नही होते । उनके मात्र शुद्ध स्वभाव का तादात्म्यभाव है । अधर्म का तो केवल ज्ञायक मात्र भाव है । स्वधर्म का ज्ञायक भी है और भोक्ता भी है । यह साराश है ।

इसी प्रकार रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ मन–वचन–कायादि का तथा धर्मास्तिकायादि परद्रव्यों का और अशनपानादि पुद्गलस्कन्धों का ज्ञायक ही है, ग्राहक नहीं । अत पूर्णतत्वज्ञ के उदय मे आये हुये स्वक्षेत्रगत पुद्गलस्कन्धो के अयोग्य रूप होने से निर्जरा ही होती है, अभिनव बन्ध नही होता । इस प्रकार तत्वरसिकजनों के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध है । तत्वज्ञानी इस रीति से सम्पूर्ण भवान्तर परिग्रहशून्य होने से और अज्ञान का पूर्णरूप से वमन हो जाने से और सर्वत्र पूर्ण निरालम्ब होकर प्रतिनियत टकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक स्वभाव होता हुआ साक्षात् इस विज्ञान घनमय आत्मा का अनुभव करता है ।

"ज्ञानमग्न निजतत्वविलीन, पूर्वबद्धनिज कर्मविपाकान् ।
व्याप्तिभाव रहित परिभुञ्जन्, निर्जरयति नहि नव्यबन्धक ॥८॥

अर्थ —ज्ञान मग्न स्वात्मतत्व मे लीन आत्मा, पूर्व में बाँधे हुये अपने कर्मो के विपाक को व्याप्ति रहित भोगता हुआ उन कर्मो की निर्जरा करता है । नवीन कर्मो का बन्धक नही बनता ।

त्यागबुद्धि से भोगते हुये भी आकाक्षा के अभाव में बन्ध नहीं होता। इसे स्पष्टता से समझाते हैः-

उप्पन्नोदय भोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्च ।
निक्कखस्स भगवओ, न हेउभावत्तण लहइ ॥१३॥

व्याख्याः—उदयप्राप्त कर्मो का विपाक नित्य त्यागबुद्धि से भोगते हुये, समस्त परभावों की आकाक्षा नहीं रखने वाले पूज्य सर्वज्ञ ज्ञानी भगवान् के वे उदयप्राप्त कर्म विपाक हेतुभाव नहीं बनते । अर्थात् बन्धहेतु नहीं बनते, अत अभिनवबन्ध नहीं होता ।

कर्मोदय का उपभोग तीन प्रकार के कर्मो का होता है-अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत । उसमे अतीत तो अतीत होने से वह परिग्रह भाव नहीं रखता । और अनागत मे तो उसमे आकाक्षा करते हुये जन के ही परिग्रह भाव से होता है । वे सर्वज्ञ तो पुरुषोत्तम हैं, वे अनागत की आकाक्षा नहीं करते; इससे बन्धक भी नहीं बनते । तथा प्रत्युत्पन्न कर्मोदय का विपाक है, वह रागबुद्धि से प्रवर्त्तमान जीव के ही बन्ध का कारण है । ज्ञानी के प्रत्युत्पन्न कर्म का विपाक या उपभोग रागादि मे प्रवर्त्तमान न होने से बन्ध का हेतु नहीं होता । ज्ञानी के जो ज्ञानमय भाव वाला है, रागबुद्धि का अभाव होने से वह केवल विराग बुद्धि मे प्रवृत्त रहता है; अत· वह बन्धक नहीं और प्रत्युत्पन्न कर्मोदय का उपभोग ज्ञानी के इसी कारण परिग्रह नहीं होता । अनागत कर्मोदय का उपभोग तो सकलज्ञानी के अनाकाक्षित ही है । ज्ञानमय भाव वाले ज्ञानी के आकाक्षा का अभाव होता है; अतः अनागत कर्मोदय के उपभोग का परिग्रह ज्ञानी के नहीं हो सकता । क्योकि ज्ञानी के निश्चय से स्वभाव का टकोत्कीर्णमात्र ज्ञायक भाव सदा रहता है, तथा जो वेद्य वेदकभाव हैं, वे दोनो विभाव भावों के अनुत्पादक और प्रध्वसक होने से क्षपक हो जाते हैं । उनमे जो भाव काक्ष्यमाण वेद्य-भाव को वेदने वाला है, वह जब तक उत्पन्न हो तब तक तो काक्षमाण वेद्यभाव का विनाश हो जाता है ।

उसके नष्ट होने पर वेदक भाव क्या वेदे ? यदि काङ्क्ष्यमाण वेद्यभाव पीछे होने वाले अन्यभाव को वेदता है, तो उसके होने से पूर्व ही वह विनष्ट हो जाता है, तब उसे कौन वेदता है ? यदि वेदकभाव पीछे होने वाले भाव को जो रखा हुआ है, उसे वेदता है, तो उसके होने से पूर्व वह नष्ट हो जाता है, तब वह किसे वेदता है ? इस प्रकार काङ्क्ष्यमाण भाववेदना की आवश्यकता जानता हुआ ज्ञानी किञ्चित् भी आकांक्षा नहीं करता ।

वेद्य वेदक विधि क्षणक्षयी, विद्यते न खलु केन कदाचित् ।
तेन नेच्छति परस्य हि भोक्तृता भिन्नता भजति धीर सुधीमान् ॥९॥

अर्थ—वेद्य वेदकविधि क्षणमात्र में ही क्षय हो जाती है । निश्चय से किसी प्रकार भी वह ठहरता नही है, अत धीर बुद्धिमान् साधक पर वस्तु की भोक्तृता की इच्छा नहीं करता और इससे भिन्नता का भाव रखता है ।

यहाँ वास्तव मे यह समझने योग्य है, कि उदय मे आये हुये को वेदने मे तो असंख्यात समय लगते है, और प्रति समय वेदभाव की नव्यता रहती है, तब कैसे उसका भोग हो सकता है । अत मुनि प्राय उदय मे अव्यापक ही रहता है । इस अवस्था में जिन अध्यवसायो का उदय होता है, उनमे से कौन से संसार विषयक व कौन से शरीर विषयक है, उनमें जितने ससार विषयक है, वे बन्ध के निमित्त है । जितने शरीर विषयक है, वे उपभोगनिमित्त है । संसार विषयक अध्यवसायो में रागद्वेषमोहादि का भाव है, अत वे बन्ध के निमित्त है । शरीर विषयक सुखदुःखादि है वे उपभोगनिमित्त है । उनमे ज्ञानी का राग नही है, क्योकि ज्ञानी उन्हे पर स्वभाव-जड स्वभाव जानता है । टंकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक भाव रूप स्वभाव वाले ज्ञानी के परभाव का प्रतिषेध है । अत शरीर विषयक आहारादि का भोग बन्ध का निमित्त नही बनता । जैसे-पाश रहित वस्त्र को अनेक मञ्जिष्ठादि रगो मे चिरकाल रहने पर

भी वर्णान्तरता नहीं होती । वैसे ही ज्ञानी परभाव मे व्यापकत्व होने पर भी रागादि रहित होता है । विपाकवश उदय मे आये हुये को भोगता हुआ भी बन्ध नहीं करता, प्रत्युत निर्जरा ही करता है । ऐसा जानना चाहिए ।

विपाक का उदय बन्ध का हेतु नहीं है । विपाक का उदय होने पर भी जिनेश्वर देवों-सर्वज्ञों के अबन्धता प्रसिद्ध ही है । रागी द्वेषी ही कर्म बॉधता है; अत जो आत्मतत्वालम्वी आत्मा मे उपयोग रखने वाला ज्ञानी है वह बॅधता नहीं, किन्तु मुक्त होता जाता है । यही कहते हैं –

नाणी कसायरहियो सव्वे पुव्वोदये अ भुजतो ।
णो लिप्पइ कम्मरयो अन्नाणी तम्मओ अ लिप्पेइ ॥१४॥

व्याख्याः—जैसे स्वर्ण कीचड मे रहा हुआ भी कीचड से लिप्त नहीं होता । क्योकि उसका स्वभाव लिप्त होने का नहीं है । वैसे ही ज्ञानी जो चारित्रयुक्त है, विपाक प्राप्त कर्मोदय मे रहा हुआ भी अव्यापक होने से कर्मों से लिप्त नहीं होता । क्योकि उसके परद्रव्य पर राग के त्याग का स्वभाव होने पर अलेप स्वभाव होता है । जैसे सोने के काट नहीं लगता, वैसे ही ज्ञानी आत्मा के बन्ध नहीं होता । अज्ञानी परभाव का स्वामित्व मानता है और कर्म को बॉधता है । जैसे लोह कीचड मे पड़ा रहे तो उसके काट लग जाता है; क्योंकि काट लगना लोह का स्वभाव है । अज्ञानी सर्व परद्रव्य के प्रति रागद्वेष की भावना रखता हुआ रागद्वेष के उपादानशील स्वभाव वाला है; अत वह कर्म से लिप्त होता ही है ।

यही कहते हैः-

पर परिणति रागाद् बध्यते नव्यलेपैः,
परपरिणतित्यागा-न्नैव बन्धत्वमेति ।
न खलु न खलु ग्राह्य भिन्न द्रव्य स्वरूप,
यदिह नहि स्वकीय त न गृह्णाति दक्ष· ॥१०॥

अर्थ-आत्मा परपरिणति के राग से नये कर्मलेप से लिप्त होता है और परपरिणति के त्याग से ब धत्व को प्राप्त नही होता । अत निश्चय से परद्रव्य जो आत्मा से भिन्न स्वरूप वाले है, वे किसी भी प्रकार से ग्राह्य नही हो सकते । क्योकि बुद्धिमान् व्यक्ति 'जो अपना नहीं है' उसे नही लेते । यह ससार में भी व्यवहार से एव नीति से प्रसिद्ध है ।

यह प्रतिज्ञा या भावना सम्यग् रत्नत्रयीपरिणत जीव के ही ठहरती है । वह परभावों को धारण करता हुआ भी उनका कर्त्ता और भोक्ता नहीं है । उस परिणति से भिन्न ही है ।

निस्सको निक्कखो निव्वितिगिच्छो अमूढदिट्ठी अ ।
उववूहो थिरभावो वच्छल्ल पभावण जुत्तो ॥१५॥
सपर विवेगीणाणी नियभावे जो रओ धीरो ।
सो सव्व कम्म उदयगय निज्जरइ भिन्नो ॥१६॥
जो रमइ सो बधइ, नो रमइ तस्स बधण नत्थि ।
तम्हा पुव्वोदिन्ने, न रमतो निज्जर कुणइ ॥१७॥

व्याख्या —यहाँ जो साधक-साधु है, वे समस्त कर्मो से निरभिलाष-अनिच्छुक होते हुये कर्म से अत्यन्त निरपेक्षतया वर्त्तते है । इस कारण वे कर्मोदय मे अतिशय निर्भय माने जाते है । वे समझते है कि ये विपाक मेरे स्वधर्म के छेदक नही, किन्तु आवारकमात्र है और वे भी स्वल्पकालावस्थायी है । अत उसके विपाक में शका कैसी ? क्षय का अवसर आने पर स्वत क्षय हो जाते है । क्षय का अवसर आने पर ही वे विपाकी बनते है, इसमे कैसा भय ? और कैसी दीनता ? "मै तो शुद्ध ज्ञानादि अनन्त आनन्दमय हू ।" इस प्रकार मुनि सर्वभय से विप्रमुक्त नि शक विचरता है ।

अर्थ-(इहलोकादि सभी भय है । उनमे से यदि कोई जो पूर्व मे बाँधे हुये है, वे उदय मे क्षय होने के लिए ही आ रहे है, तो बुद्धिमान

जनो को क्या भय करना चाहिये ? परभाव का क्षरण करने के लिए विपाक का उदय होता है, इसमे कौन समभावान्वित, चेतना परिणति वाला आतुर बने । वह तो शुद्धात्म भाव का सेवन करे । क्योंकि सम्यग्दृष्टि टकोत्कीर्ण ज्ञायकसम्यक्त्वी होने से कर्मबन्ध की शका कराने वाले मिथ्यात्वादि भावों के अभाव मे निःशक रहता है; अतः उसके शकाकृत बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है ।

सम्यग्दृष्टि के आकाक्षाकृत बन्ध भी नहीं होता; क्योंकि वह टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावमय होने से सभी कर्मफलो और सभी वस्तुधर्मो मे निराकाक्षी है । अतः काक्षा के अभाव मे बन्ध न होकर निर्जरा ही होता है ।

उसके विचिकित्साकृत कर्मबन्ध भी नही है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानचारित्रमय टकोत्कीर्ण ज्ञाता स्वभावमय होने से सभी द्रव्य जो स्व स्वभाव परिणत और पर है, और जिन्हें हेयरूप से विभक्त कर दिया है तथा स्व, आत्मभावों मे जो स्वतया उपादेय कर लिये गये है, उन मे जुगुप्सा का अभाव होने से वे निर्विचिकित्स है । इस कारण उसके भी बन्ध नहीं, निर्जरा ही है । तथा अशुभभावों मे भी हेयत्व रूप से तद्धर्म व तत्स्वरूपतया, धारण किये जाने पर उनमे कौनसी काक्षा अथवा दुगछा है । क्योकि काक्षा रागोद्भवा और दुगछा द्वेषोद्भवा होती है । राग और द्वेष दोनो ही अकार्य हैं; अतः दोनों के अभाव मे उस प्रकार को इष्ट या अनिष्ट विपाकों के भोग मे भी निर्जरा ही होती है तथा यथार्थ ज्ञानादि परिणाम से किन्हीं भावो मे मूढ़ता नहीं होती, अत. मूढदृष्टि से किया जाने वाला बन्ध भी सम्यग्दृष्टि के नहीं होता । वाग्योग का आस्रवत्व होने पर भी सम्यग्ज्ञान कारणता रूप मे प्रवर्तने वाले के बन्ध नहीं होता, क्योकि सम्यग्ज्ञान चारित्रयुक्त, निराबाध, ज्ञायक भावना वाला, भावरूप से समस्त आत्मशक्तियो को साधनरूप से अथवा स्वकार्य रूप से प्रवृत्त करता हुआ, तथा आविर्भूत शक्तियों को परभावों मे प्रयुक्त नही करता हुआ जो आत्मा है, उसके स्वशक्ति की दुर्बलता के अभाव में अन्यथा प्रवृत्ति नहीं होती; अत तत्कृतबन्ध न होकर प्रत्युत् निर्जरा ही होती है ।

सम्यग् रत्नत्रयीयुक्त आत्मा साध्य साधन की एकता वाला है स्व अथवा अन्य के मार्गच्युत होने का प्रसग उपस्थित होने पर मार्ग पर ही स्थिति करता कराता है । अत स्थिरीभूत ‘आत्मस्भाव वाला होने से मार्गच्युति से होने वाला बन्ध भी नहीं होता, क्योंकि मोक्षमार्ग का साधक आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो स्व से अभेदबुद्धि से स्थित है उन्हे स्वगुणो मे स्थिर करता है ।

स्वगुणो का पोषण करने से वात्सल्यगुणधारक होता है । इस गुण के धारक के अन्य साधकजनो के स्वोपदेशादि द्वारा क्षुधादि विघ्नो को दूर करने और पोषण करने से अवात्सल्यरूप अतिचार से होने वाला कर्मबन्ध नही होता । द्रव्यवात्सल्य भी भाववात्सल्य का कारण ही है, अत उसे भी वात्सल्य ही कहना चाहिये । जो विभाव के कारण है, वे द्रव्य निक्षेप वाले के भी नही होते, लोक में जो भाव के कारण है, वे सचेतन या अचेतन द्रव्य, तत्वज्ञों के द्वारा कहे गये है । ऐसा आगम वाक्य है । तथा संसार में भी द्रव्य, भाव का कारण माना जाता है । श्री आचारांग सूत्र व टीका मे भी यही कहा गया है :—

"जे गुणे से मूलट्ठाणे" (लोकविजयाध्यने, १ उद्देश)

यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनादि वालो के द्वारा की गई क्रिया सिद्धिफल रूप गुण से फलवती है । अन्य दूसरी क्रियाएँ तो सासारिक फल मे अध्यारोप होने से निष्फल अर्थात् मुक्तिरूप फल देने वाली नही होती इत्यादि अनेक वाक्यो से जान लेना चाहिये । फिर क्योंकि सम्यग् रत्नत्रयी परिणत आत्मा स्वशक्ति के जागरण से अर्थात् ज्ञानादि को निरावरण कर लेने से अन्य भव्य जीवो के स्वभाव को प्रकाशित करने मे कारणरूप है, अतः शासन-प्रभावक है, और प्रभावक होने से यह भी कर्मबन्ध नही करता । उसके भी निर्जरा ही होती है । इस प्रकार दर्शन के आठ आचारो का पालन करने वाले के निर्जरा ही होती है, बन्ध नही होता ।

दोष त्यागात् शुचि निजगुणै र्नाटयन् स्वस्वरूप,
निश्शकाद्यै र्वसननिचयै भूषयन् स्वात्मशक्तीन् ।
सम्यग्दृष्टि निर्जररसोत्कर्षतस्तत्वलीनो,
बन्ध त्यक्त्वा किरति दलिकान् तस्य वै निर्जरैव ॥१२॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टि आत्मा, निर्जररस–ज्ञानादि अथवा शान्तरस के उत्कर्ष से तत्व मे लीन हो जाता है । शकादि या रागादि दोषों के त्याग से निज गुणों के द्वारा स्वस्वरूप की रमण–क्रीड़ा कराता हुआ और निःशकत्वादि आठ आचार मय वस्त्रों स्वात्मशक्तियों को भूषित करता हुआ बन्ध को छोड कर पुद्गल दलिकों को बिखेर देता है, उसके निश्चय से निर्जरा ही होती है ।

॥ इति निर्जरा वर्णनस्वरूप षष्ठाधिकारः ॥

अथ बन्ध निवारण सप्तमोऽधिकारः

(शार्दूल विक्रीड़ित वृत्तम्)

राग द्वेष महाभटेन सकल विश्व प्रमादीकृत,
शुद्धानन्दरस विहाय समल भाव विष प्रापितम् ।
तद् विच्छेदपर सुखोदयकर सद्भावना भावित,
स्याद्वादामृतपानपूर्णममल ज्ञानं समुज्जृम्भते ॥

अर्थः—रागद्वेषरूप महायोद्धाओं के द्वारा यह सारा ससार प्रमत्त बना हुआ है और शुद्ध आत्मानन्द रस को छोडकर कर्ममलरूप भाव विषमय बना दिया गया है । उस विष को नष्ट करने वाला, सुख का उदय करने वाला, सद्भावनाओं से भावित, स्याद्वाद अमृतपान से भरा हुआ, निर्मल ज्ञान सम्यग् प्रकार से समुल्लसित हो रहा है, विलास कर रहा है ।

जहनाम को वि पुरिसो णेहब्भतो उ रेणु वहुलम्मि ।
ठाणम्मि वायाम कुव्वतोऽणेग चेट्ठाइ ॥१॥
सो रेणु जत्तो होही णेहेण य णेग चिट्ठकरणेहि ।
एवं पुग्गल रेणु लिप्पइ जीवे सरागत्थे ॥२॥

व्याख्या—यहाँ यह समझने योग्य है कि जैसे कोई तैलाभ्यगयुक्त पुरुष स्वभाव से ही रज की अधिकता वाली भूमि मे रहा हुआ, नाना प्रकार के व्यायाम या शस्त्राभ्यास का कार्य करता हुआ, अनेक प्रकार की चेष्टाओं, व्यायाम एव सचित्त अचित्तादि पदार्थों को अर्थात् चाँदमारी या लक्ष्यवेध करता हुआ धूल से सन जाता है । वैसे तैलाभ्यग रहित पुरुष के रज नही लगती, भले वह शस्त्राभ्यास या व्यायाम करे या न करे । रज चिपकने का कारण तैल है, वह नहीं लगा हुआ है, तो रज नही लगती । इस न्याय के बल से यह सिद्ध है कि रज लगने का हेतु तैलाभ्यग है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आत्मा परभाव में रागादि करता हुआ, स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गल की अधिकता वाले इस जगत् में कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करता हुआ, अनेक प्रकार के इन्द्रियादि साधनों द्वारा सचित्ताचित्त वस्तुओं का इष्ट अनिष्ट रूप से ग्रहण-त्यागादि करता हुआ, कर्म-रज से बँधता है । उसके कौन सा बन्धहेतु है ? स्वभाव से ही तो कर्म बँधते नही । यदि स्वभाव से बधते हो तो कर्मयोग्य पुद्गलो से भरे हुये लोक मे सिद्धो के भी जो लोक मे ही है, कर्मबन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता । और केवल योग ही मन, वचन, काय योग ही बन्ध के हेतु माने जायँ तो योग की विद्यमानता में यथाख्यातचारित्र वाले क्षीणमोहादि गुणस्थानवर्ती जीवों के घातिकर्मों के बध का सम्भव नही । साता का बध है, साम्परायिक बन्ध नही होता क्योकि योगो के सद्भाव में भी सयोगी केवली भगवान् के ईर्यापथिकी क्रिया से होने वाले साता वेदनीय का बन्ध है, साम्परायिकी क्रिया से होने वाला बन्ध नही है । न सचित्त अचित्त वस्तु के ग्रहण त्याग मे बन्ध है ।

इस कारण उनके वन्ध का सम्भव ही नहीं है और मुनिजनों के ईर्यापथिकी साम्परायिकी आदि क्रिया होने पर भी तीव्र वन्ध नहीं होता क्योंकि उनके परिणाम इष्टानिष्ट वस्तु मे रागद्वेषमय नहीं है । विहार आदि मे प्राणातिपातज (हिसा से होने वाला) दोष का सम्भव होने पर भी उनके वन्ध नहीं है ।

अतः रागद्वेष से ही विपाकी कर्मवन्ध का सम्भव है, इस कारण रागादि दोषों का निवारण ही श्रेयस्कर है ।

एव णेहाभावे ना रेणुलेवो न कयावि कस्सवि ।
तहबध हेउ विगमे न बधभावो अ सुद्धस्स ॥३॥

व्याख्याः—जैसे स्नेह चिकनाहट के अभाव मे शरीर पर रज का लेप (चिपकना) किसी के कदापि नहीं होता । वैसे ही वन्धहेतुओं के अभाव मे सम्यग् रत्नत्रयी परिणत शुद्ध आत्मा के भी वहुविध कार्यो मे उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति होने से रागादि न करता हुआ कर्मरज से लिप्त नहीं होता । ऐसा जानना चाहिये ।

जो मणइ कत्तित्त आसवभावाण अन्न भावाण ।
सो बधइ अन्नाणी तव्विरओ नेव बधइ ॥४॥

व्याख्याः—वास्तव मे जो जीव प्राणातिपातादि-हिसादि आश्रव कार्यो का कर्तृत्व-'मै कर्त्ता हूँ' ऐसा मानता है, तथा मै पौद्गलिक (भौतिक) 'परभावों का भोगी हूँ' ऐसा जानता है और मै जीव-अजीव-स्त्री-पुत्रादि एव वास्तु क्षेत्र उद्यान धनरत्नादि का स्वामी हूँ ये मेरे है 'इनके कारण मैं वडा हूँ' ये न हों तो मै रक-दरिद्र हूँ । इत्यादि विपर्यास- आत्म-विरुद्ध भावनाओं से जीव कर्मो से बँधता है । और जो आत्मा- 'मैं अपने स्वभाव-ज्ञानदर्शनादि का कर्त्ता भोक्ता व स्वामी हूँ, इत्यादि स्वरूपमय रहता है, परभावादि अन्य-भोगादि कार्यो को अकार्य-अकरणीय जानता मानता है, वह कर्मो से नहीं बँधता । अज्ञानी जीव

कर्त्ता, कारण, कार्य आदि का स्वरूप नहीं जानता हुआ, शुद्ध कर्त्तादि-स्वरूप के कर्त्तादिरूप परिणत नहीं होता पर कर्त्तादिरूप भावों से परिणत होता है वह बँधता है, अत ज्ञानी स्वरूप का कर्त्ता, स्वरूप का भोक्ता और स्वरूप में रमण करता हुआ कर्मो से नहीं बधता । सदा चेतनालक्षण से युक्त और अविनश्वर स्वभाव वाला जीव द्रव्य है, अत परभाव मे रमण उसका स्वभाव नही ।

यद्यपि जगत् में सकर्मा जीव दश प्राणधारणरूप लक्षण से जीवन धारण करते है वह तो उनके अपने आयु कर्म के उदय से ही है । यदि आयु कर्म बंधा हुआ अत्यन्त अल्प है तो वह उत्पन्न होते ही मर जाता है । (निगोद मे तो जीव एक श्वास मे १७ ¹/,और जीव अपना आयुआदि कर्म न किसी को दे सकता है और न किसी के कर्म ले सकता है । क्योंकि सभी जीव अपने अपने कर्म अपने ही परिणामो से उपार्जन करते हैं । इस कारण कोई जीव किसी भी प्रकार से किसी अन्य जीव का कुछ कर्त्ता हर्त्ता नही हो सकता । केवल निमित्त मात्र बन सकता है । अत मै किसी जीव को जीवित रखता हूँ । सुखी-दुखी करता हूँ । ऐसा अध्यवसाय-कल्पना, अभिमान, विचार, मात्र अज्ञान है ।

और आत्मा अव्याबाध सुखमय होने पर भी सकर्मा होने से वेदनीय कर्म द्वारा उसका अव्याबाध सुखमय रूप निरुद्ध हो रहा है । इसी कारण वेदनीय के शुभाशुभ विपाक से साता-असाता का उदय होने पर सुख दुख का अनुभव करता हुआ 'मै सुखी हूँ' मै दुखी हूँ' 'मैं दुखित अन्य जीवों को सुखी करता हूँ' अथवा 'दुखी करता हूं' या अन्य जीव मुझे सुखी या दुखी करते है यह धारणा भी निश्चय से अज्ञान है । इस प्रकार के अध्यवसायो वाला मिथ्यादृष्टि कर्मो से बँधता है । 'स्व या पर का जीवन तो स्व स्व कर्मानुसार होता है' ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि तो यह विचारता है कि 'मै किसी का नही हूं' 'न मेरा कोई है' मुझे अपना स्वरूप पर-परिणतमय नहीं करना चाहिये । चेतना तथा वीर्यादि को परानुयायी करना ही अभिनव कर्म का ग्रहण कराता है । अत "मै पर

व्यापार मे तत्पर नही होऊँ, मुझे चेतना व वीर्यादि को मेरे स्वरूप का अनुगत करना चाहिये" ऐसा जानता, विचारता और करता हुआ इनी कर्मों से बद्ध नहीं होता । क्योंकि मरता है, जीता है, सुखी होता है, दुःखी होता है । ये सब कार्य जीव के अपने कर्मोदय से होते है । कर्म न हो तो वह मुक्त हो जाता है । मैंने इसे मार दिया, जीवित कर दिया, सुखी कर दिया, दुःखी कर दिया, ऐसा जानने-देखने वाला मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए । मिथ्यादृष्टि के ही ये बन्ध के हेतु है; क्योंकि वही अज्ञानवश इन कार्यों में कर्तृत्वभाव रखता, समझता और करता है । यद्यपि जीव परभाव का कर्ता नही है; तथापि कर्मोदयवशात् परभावकरण मे कर्तृत्वमति भी मिथ्याज्ञान है, और मिथ्या-ज्ञान से कर्म बँधते है । तथा परभावो मे रागद्वेष असयम आदि का परिणमन होने से बन्ध है । अत उसे निवारण करने के लिये कहते है—

जो नियदव्वत्थित मुत्तूण जे उ होंति अन्नाई ।
तेसि करणे गहणे भोगे रागेण दोसेण ॥५॥
वधइ अपावियप्पा, सरूवरामी न वधेइ ।
तम्हा रयणत्तयेनीये वट्ट तो सवरी खवइ ॥६॥

व्याख्या—वास्तव मे जो जीवद्रव्य स्व अस्तित्व परिणत ज्ञानादि स्वधर्मो को छोड कर अन्य परद्रव्य, परभाव परद्रव्यस्वभाव वर्णादि है, उनके कर्तृत्व भोक्तृत्व अथवा रागद्वेष से परिणत हुआ सविकल्प होने से कर्म बाँधता है । और जो जीव स्वरूपरमणशील है, परभाव का अनुगामी नही है, अपने रत्नत्रयरूप भाव मे रमणशील है, वह कर्म नही बाँधता । आत्म साधना मे वर्तमान सवरवान आत्मा तो क्षय करता या निर्जरा करता है ऐसा जानना चाहिये । जो अज्ञान से उत्पन्न रागद्वेषमय अध्यवसाय है, यही वन्धन का हेतु है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये । इष्ट अनिष्ट दोनो ो वन्ध के हेतुओं का अवरोध हो जाने से उपर्युक्त सवरवान् के वन्ध ाहीं होता । इस प्रकार हिसा का अध्यवसाय ही हिसा है । यह सिद्ध

हुआ । परजीवों के कर्म की विचित्रता से प्राणो का नाश कदाचित् हो या न हो, जिस व्यक्ति के 'मै मारता हूँ' इस अहकार रस से भरा हुआ हिसा का अध्यवसाय है, वही वास्तव में बन्ध का हेतु है । जो हिसा का अध्यवसाय है, वही विषयाभिलाषा से रागरूप है और परशरीरादि घात युक्त होने से द्वेष रूप है । इस प्रकार सर्वत्र रागद्वेष की एक-समयता माननी चाहिए । विशेषावश्यक में कहा है कि-"ननु जीवाकुले लोकेऽवश्यमेव जीवघात सम्भाव्यते, जीवाश्च घ्नन् कथ हिसको न स्यात् ?" शका की गई है कि जीवों से भरे हुए लोक में अवश्य ही जीवों के घात की सम्भावना है और जीवों को मारता हुआ हिसक कैसे नही होता ? अत कहते है —

"न य घायउत्ति हिसो नाघायतो त्ति निच्छिय मयेऽहिसो ।
न विरलजीवमहिसो न य जीव घणति तो हिसो ॥१॥
अहणतो वि हु हिसो दुऽत्ताराओ मओ अहियरोव्व ।
बाडतो वि न हिसो सुद्धमणओ जहा वेज्जो ॥२॥

अर्थ —'मारने वाला है' इतने मात्र से कोई हिसक नहीं हो जाता और नही मारने वाला अहिसक नहीं हो जाता, ऐसा निश्चय नय का मत है । किसी विरल जीव की भी हिसा नहीं करता, इससे भी कोई अहिसक नहीं हो जाता । तथा बहुत जीवो की हिसा करता है, इससे कोई हिसक नही हो जाता । तब क्या राजादि का घातक अभीचिकुमार वह दुष्ट अध्यवसाय वाला होने से न मारता हुआ भी हिसक है ? उत्तर है कि हाँ वह हिसक है । रोगी को कष्ट देता हुआ वैद्य शुद्ध परिणाम वाला होने से हिसक नही है, अत मारता हुआ भी अहिसक हो सकता है और न मारता हुआ भी हिसक हो सकता है, यह कहा गया है ।

किस प्रकार का अहिसक यहाँ ग्रहण किया जाय ? यह बतलाते हैं-
पच समिओ तिगुत्तो नाणी अविहिसओ न विवरीओ।
हो उ व सपन्ना से मा वा जीवावरोहेणा ॥७॥

अर्थ·—जो सर्वविरति, देशविरति या सम्यग्दृष्टि 'पच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त ज्ञानी, जीवों की रक्षा को स्वरक्षा जानने वाला, सर्वथा जीवरक्षा के परिणामयुक्त और जीव रक्षा मे तत्पर, हिसा करता हुआ भी अहिसक माना गया है । इससे विपरीत लक्षण वाला अहिसक नहीं है, किन्तु अशुभ परिणाम वाला होने से हिसक है । बाह्य जीव-हिसा तो जीवों का उपरोध करने वाले के कीटादि जीवों के उपरोध से उपघात हो अथवा न हो, वह साधु के हिसकत्व के लिये नहीं । क्योंकि उसका अनेकान्तिकत्व है । उसका अनेकान्तिकत्व कैसे है ? अत कहते है –

असुओ जो परिणामो सा हिसा से उ वाहिर निमित्त।
को वि अवेखेज्ज न वा जम्हा ण निमिय वज्झ ॥८॥

व्याख्या.—क्योंकि यहाँ निश्चय से जो अशुभ परिणाम है, वही हिसा है, यह विशेष रूप से कहा जा रहा है । और वह बाह्य सत्वातिपात क्रिया (प्राणीहिसा) किसी के लक्षण निमित्त अपेक्षित है । किसी के वह निरपेक्ष भी हो सकती है, जैसे तन्दुलमत्स्य आदि के । इस कारण वाह्य निमित्त अनेकान्तिक ही है । उन बाह्य निमित्त के सद्भाव मे भी अहिसकत्व हो सकता है, और उसके अभाव मे भी हिसकत्व हो सकता है । शका होती है कि यदि ऐसा है; तो क्या बाह्य जीवघात सर्वथा हिसा है ही नहीं ? इस विषय मे कहते है, कि कोई होती है, कोई नहीं होती । यह कैसे ? उसे कहते है :–

अशुभ परिणाम हेउ जीवाबाहो त्तितो मय हिसा ।
जस्स उ न सो निमित्त सते वि न तस्स सा हिसा ॥९॥

व्याख्या·—क्योंकि जो जीव हिसा है, वह अशुभ परिणाम के हेतु से है । अथवा अशुभ परिणाममय है । यह जीवबाधा ही जीवघात है, वही जीवहिसा है, ऐसा तीर्थंकरों व गणधरों का मत है । जिसके जीवघात या

जीव को बाधा देने का अशुभ परिणाम नही है, उसके निमित्त से जीवों को बाधा को होते हुये भी हिसा नहीं है । इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हुये कहते है -

सद्दादओ रइफला न वीयमोहस्स भावसुद्धीओ ।
जह तह हिसा भावो न सुद्धमण सो वि हिसाए ॥१०॥

व्याख्या —जैसे रागद्वेष मोहादि रहित भगवान् के भावविशुद्धि (इष्टशब्दादि) होने से रतिफल जनक अर्थात् प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले कभी भी नही होते, और जैसे आज भी शुद्ध आत्मा वाले (मर्यादामयपुरुष) व्यक्ति को रूपवती माता के साथ विषय सेवन की अभिलाषा उत्पन्न नही होती, वैसे ही शुद्ध परिणाम वाले जयणायुक्त साधु श्रावक के भी स्वात्मस्वरूप साधन में कारणरूप अर्हदादि की सेवा मे होने वाला जीवों का अपघात भी हिंसा के लिये नही होता, अत अशुद्ध परिणामजनकत्व होने पर भी बाह्य निमित्त अनेकान्तिक है । तथा हिसादि आश्रयकर्तव्य से हिसादि आश्रव है, साधनादि मे नहीं । इसी प्रकार श्री भगवती सूत्र मे हर्षानिकासनादि अधिकार मे भी है । तथा भगवती सूत्र के पंचम शतक के चतुर्थ उद्देश मे अतिमुक्तकुमार मुनि के चरित्र मे-वर्षा की नाली के जलप्रवाह मे पात्र तिराने पर भी आलोचना नहीं, किन्तु वृद्ध श्रमणो को वैयावृत्य करने का उपदेश है । वहीं ऐसा आलापक (पाठ) है —

त मा ण अज्जो तुब्भे अइमुत्तकुमारसमण हीलह निंदह खिसह गरहह अवमन्नह तुब्भे णं देवाणुप्पिआ । अइमुत्तकुमार समण अगिलाए संगिण्हह अगिलाए उवगिण्हह अगिलाए भत्तेणं पाणेणं विणएण वेयावडिय करेह । अइमुत्तेगकुमार समणे अतकरे चेव ।

भाषा टीका —अत हे आर्य । आप लोग अतिमुक्तकुमार श्रमण की निन्दा (मन से बुराई करना) मन से निन्दा न करें । हीलना (जात्यादि उद्घाटन पूर्वक) न करो । खिसना मत करो – (जनो के समक्ष निन्दा

मत करो,) गर्हा—(उनके सामने ही बुराई करना गर्हा कहलाती है ।) यह न करो । अवमानना (योग्य सेवा सुश्रूषा आदि न करना ।) मत करो । अत. हे देवानुप्रिय ! आप अतिमुक्तकुमार श्रमण को खेद रहित होकर स्वीकृत करिये, खेद बिना उनके सहायक बनो, खेदरहित होकर भक्तपान आदि से तथा विनय से वैयावृत्य-सेवा करो । अतिमुक्तकुमार श्रमण अन्तकर अर्थात् जन्ममरण रूप ससार का अन्त करने वाला है । चरमशरीरी मोक्षगामी है । इसी भव मे मोक्ष जाने वाला प्रकृतिभद्र है ।

यहाँ षट्काय का वध होने पर भी प्राणातिपात का आश्रव नही । इसी प्रकार मल्लिदेव (उन्नीसवे तीर्थंकर) के अधिकार मे, सुबुद्धि मन्त्री के प्रस्ताव मे और सुमङ्गल निर्ग्रन्थ के अधिकार मे भी हिसा होने पर भी हिसकत्व नही दिखता । ऐसे ही ज्ञातृधर्मकथा सूत्र मे धर्मरुचि निर्ग्रन्थ के अधिकार मे कडुवा तूबे का साग देने वाली को राजद्वार आदि मे हीलना, कर्कश वचनादि से निन्दा, पैशुन्य, क्रोध आक्रोश आदि भी दृष्टिगोचर होते है, तथापि वहाँ पापस्थानकता नही । सुनक्षत्र व सर्वानुभूति साधुओ के अधिकार मे गोशालक पर आक्रोश करने पर पहले भगवान् महावीर के द्वारा उन्हे रोके जाने पर भी वैसा करने मे आज्ञाभग नही माना गया । स्वाध्याय आदि ध्यान आदि मे मनोयोग वाग्योग काययोग का व्यापार होने पर भी, तत्प्रत्ययिक बन्ध न मानकर संवर कहा गया है, अत साधन कारण की प्रवृत्ति मे आश्रव प्रवृत्ति होने पर भी आश्रवता नही है । इस प्रकार देखना चाहिये । फिर आचारांगादि सूत्रो मे सचित्त लवण पान, विषम स्थान मे विहार करने मे वल्लिलता आदि का अवलम्बन कहा ही है । इसी प्रकार अलीकादि के विषय मे भी समझ लेना चाहिये । ऐसे ही जो अज्ञान से जैसे अध्यवसाय हिसा मे किये जाते हैं, वैसे सत्य अदत्त ब्रम्हचर्य अपरिग्रह मे भी जो अध्यवसाय है, वे भी सब केवल पापबन्ध के हेतु है, जो शुभ अध्यवसाय ज्ञान से हिसा मे जैसे किये जाते है वैसे ही सत्यादि मे किये जाते हैं । वे सभी अध्यवसाय सवररूप है । और ...न रूप है । वहाँ उनमे सवरादि मे जो इष्टता है और आश्रव मे

जो अनिष्टता है, वह पुण्य-बन्ध की हेतु है । उन्हीं सवरादि मे स्वधर्मत्व के रूप मे एकरूपता और तन्मयता है । वह सवर की हेतु है और जो आस्रवादि परभावो मे परत्यागता की परिणति है, वही निर्जरा की हेतु है । यहाँ बाह्य वस्तुओ का समूह, बन्ध का हेतु नही, किन्तु बाह्य वस्तु मे ग्रहण व भोग की परिणति और फिर उसमे रागद्वेष की परिणति बन्ध की हेतु है । यह जानना चाहिये ।

वत्थुं पडुच्च त पुण अज्जवसाण तु होई जीवाण ।
नय वत्थुतो य बंधो अज्झवसाणेण बधो ति ॥११॥

व्याख्या --अध्यवसाय-परिणाम बन्ध के हेतु हैं, न कि बाह्य वस्तु । बाह्य वस्तु हमारे अध्यवसाय की हेतु है । ऐसा चरितार्थत्व है । तब क्यो बाह्य वस्तु का प्रतिषेध किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते है -अध्ययसान का प्रतिषेध करने को ही बाह्यवस्तु का प्रतिषेध किया गया है । बाह्य वस्तु अध्यवसाय का कारण है । बाह्य वस्तु के बिना अध्यवसाय की उत्पत्ति नही होती । जैसे किसी पुरुष के दो पत्नियाँ है, एक पुत्रवती व एक वन्ध्या है । उसका दोनो पर ही द्वेष है । पुत्रवती आश्रयी-द्वेषवश वह व्यक्ति संकल्प समय मे ऐसा विचार करता है कि 'यह पुत्रवती दुखी हो जाय, इसको मार दूं, इसके पुत्र को भी मार दूँ' (क्योकि भोग मे बाधा पडती है) इस प्रकार के अध्यवसाय होते है । वन्ध्या के प्रति भी द्वेषवश तो इतना ही कि 'इस वन्ध्या को मार दूँ' (वन्ध्या है, सन्तान नही देगी व्यर्थ है) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है । इस उदाहरण से सिद्ध होता है, कि अध्यवसाय निराश्रय नही होते । और इसी कारण बुद्धिमान् राज्यादि ऋद्धि, धन, स्वजनादि को जो बहुतर व बहुलता से अध्यवसायो के कालुष्य के हेतु है, परित्याग करते है । वे अध्यवसायो की अशुद्धता हटाने के लिये उन हेतुभूत बाह्य वस्तुओ के परित्याग को श्रेयस्कर मानकर ही ऐसा करत है । इससे यह सिद्ध है कि अध्यवसाय निराश्रय नही होते और इसीलिए अध्यवसायो की आश्रयभूत

बाह्य वस्तुओं का अत्यन्त प्रतिषेध किया गया है । हेतु प्रतिषेध से हेतुमान् का भी प्रतिषेध हो जाने से अशुद्ध अध्यवसायो के अभाव मे, बाह्य वस्तु बन्ध की हेतु नही रहती । जैसे ईर्यापथिकी क्रियावाले केवलि भगवान् के पॉवों से व्यापाद्यमान कालप्रेरित वेग से आपतित जीवों की हिसा से, कुलिगादिवत् साम्परायिक बन्ध भगवती आदि सूत्रों मे नही कहा गया । न समयसार आदि मे ऐसा माना गया है । अत. जानना चाहिये कि ऐसे रागद्वेषमय अध्यवसाय इस प्रकार से बन्ध के हेतु हैं, दूसरे भाव नहीं । बाह्य वस्तु के सद्भाव को बन्ध हेतुरूप से अगीकार करने पर तो वीतरागादि के भी बन्ध के सद्भाव की भी प्राप्ति हो जायगी और इनके ऐसा दिखता नहीं । अत. भाव अध्यवसाय की अशुद्धता ही बन्ध की हेतु है, यह स्थित हुआ ।

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणे तिरिअ नेरइए ।
देव मणुए अ सव्वे पुण्ण पाव च मोक्खो अ ॥१२॥

व्याख्याः—जैसे यही आत्मा जब हिसा के अध्यवसायों से नारकत्व, माया-कपट बहुल अध्यवसायों से तिर्यगृत्व, दानादि रुचि वाले अध्यवसायों से मनुजत्व, और तप· कष्ट, प्रभु भक्ति आदि के अध्यवसायों से देवत्व प्राप्त करता है । प्रशस्त तथा शुभरागादि अध्यवसायों से पुण्य तथा अरति शोक आदि अशुभ अध्यवसायों से पाप करता है और जब वही आत्मा सर्व परभावों से विरक्त होता है, तो सम्यग्दर्शनी रत्नत्रयी के परिणामों से सवर करता है । सवर की एकता से निर्जरा, और सवर निर्जरा से मोक्ष प्राप्त करता है ।

यहाँ स्पष्टता से समझाते हैं·-कि कोई व्यक्ति हिसादि का कर्त्ता मै हूँ । 'मै करता हूँ' यह ज्ञान, यह निर्धारण, मिथ्यादर्शन है । उसमे एकत्व रूप से रमण असयम है । इस प्रकार की अशुद्ध परिणति से बन्ध आदि का कर्ता बनता है । वही आत्मा जब भेदज्ञान से विभक्त, वस्तुस्वभाव ज्ञाता 'यह मेरा कार्य नहीं' मै पापस्थानादि का कर्ता नहीं हूँ । मै तो

'स्व-स्वभावों का, जो मुझसे सदा अविच्छिन्न है' का कर्त्ता हूँ, वह शुभाशुभ अध्यवसायों को आत्मा से भिन्न मानता हुआ, अपने में अनादि परभाव की संकरता (मिलावट) को दूर करने के लिये भेदरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के परिणामों को साधता हुआ, क्षायिक भावयुक्त, बाधक साधक भावों से भिन्न, अनादि निधन स्वरूप पूर्ण, अकृत आनन्द को ही आत्मस्वरूप जानता हुआ, शुद्ध आत्म परिणाम को, उत्सर्गशक्तिमयत्व को, भोगता हुआ रहता है । इससे यह फलित है कि पहले बाधक-परिणामों का त्याग करने को साधक-परिणामों का ग्रहण करता है । कार्य सिद्धि हो जाने पर साधक-परिणामों का भी त्याग ही करना युक्त है । अत परिग्रह आहारादि का त्याग करने में अशुद्ध राग की हानि होने पर अभिनव कर्म का ग्रहण नही होता । यह जानना चाहिये । पर वस्तुओं का सग मात्र बन्ध का हेतु नहीं, कषाय की व्याप्ति बन्ध की हेतु है, तथा कषायवृद्धि में परवस्तु कारण है । इसी कारण परवस्तु का त्याग बतलाया है । कहा भी है -

"विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एव, नास्तीह येषा यतयस्त एव" ॥३॥

अर्थ —संसार से पृथक्-अपने आपको त्यागी मानने वाला आत्मा जिसके प्रभाव से अपने को संसारी ही बना लेता है, वह मात्रमोहमय अध्यवसाय ही है । जिनके इस संसार मे रहते हुये भी ये मोहरूप अध्यवसाय नही है, वे ही वास्तव मे साधु-मुनि है ।

सुभासुभ अज्झवसाणं न य सो नेव बध भवइ ।
नियभाव एगयाए निम्मलो हवइ सुद्धप्पा ॥१३॥

व्याख्या —जिनके ये शुभाशुभ अध्यवसाय नहीं होते, वे मुनि कर्मरज से लिप्त नही होते । जिनके ये बन्धहेतुभूत अध्यवसाय नही होते वे ही मुनिकुजर-मुनियो मे ऐरावण गजवत् है । अर्थात् मुनि श्रेष्ठ है । और जो कितने ही सद् हेतुओं का जानने वाले, एक क्रिया को व एक

का अभाव है और मोक्षाभाव मे निर्वाण का भी अभाव है । मोक्ष के विना सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति नही होती; अतएव मोक्ष का उपाय जानने व करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

बधाण च सहाव वियाणिउ अप्पणो सहाव च ।
बधेसु जो विरज्जइ सो कम्मविमोक्खणं कुणइ ॥२॥

व्याख्याः—जो निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उसमे विकार करने वाले वन्धो के स्वभाव को जानकर वन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मो का क्षय करके मुक्त होता है । शका इस अर्थ से तो आत्मा और वन्ध को पृथक करने वाले मोक्ष का हेतुत्व है । ऐसा नियम होजायगा । अर्थात् आत्मा और वन्ध को अलग करने मे मोक्ष हेतुरुप है यह सिद्ध होगा ? अव किसके द्वारा आत्मा व वन्ध पृथक किये जाते हैं । इसे स्पष्ट करते हैः—

जीवो बधो अ तहा छिज्जति सलक्खणेहि नियर्येहि ।
सपन्ना छेयणओ छिन्न णाण मावन्ना ॥३॥

व्याख्या—आत्मा और बन्ध को पृथक करने के कार्य मे आत्मा कर्त्तृत्व करण मानने पर निश्चय से स्वय से भिन्न करना असम्भव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है । वह इस प्रकार कि, उन दोनों के छिन्न होने पर नानात्व अवश्य आजाता है । अत. आत्मा और बन्ध को द्विधा प्रज्ञा से ही करना कहा है । यहाँ शका होती है कि आत्मा और बन्ध चैत्य चेतक भाव से अत्यन्त मिले हुये एकभूत हैं क्या ? यदि भेदविज्ञान के अभाव से ही चैत्य-चेतक रूप से व्यहृत होता हुआ प्रज्ञा से छिन्न किया जा सकता है क्योंकि नियत स्वलक्षण सूक्ष्मान्त. सन्धि मे सावधान निपातन होता है, ऐसा जानते हैं । सर्व द्रव्यो से भिन्न आत्मा का असाधारण चैतन्य लक्षण है । और वह प्रवृत्त होता हुआ उन उनमे अभिव्याप्त होकर प्रवृत्ति करता है । निवृत्त होता हुआ भी उस चैतन्य लक्षण को लेकर निवृत्त होता है । वह सभी सहप्रवृत्त या क्रमप्रवृत्त पर्याय

मात्र आत्मा है । ऐसा लक्षण करना उचित है । एक लक्षण लक्ष्य होने से समस्त सह और क्रम प्रवृत्त अनन्त पर्याय है वे अविनाभावित्व रूप से है । चैतन्य का जो चिन्मयत्व है, वही निश्चय से आत्मा है । और बन्ध का तो आत्मद्रव्य के साथ असाधारण रागादि जो साधारणतया धारण किये जाते हुये प्रतिभासित होते है, क्योंकि वे रागादि सदा चैतन्य चमत्कार से अतिरिक्त प्रतिभासमान रहते है । और जब तक ये रागादि आत्मा के स्वपर्यायव्यापि रूप चैतन्य मे प्रतिभासित होते है, तभी तक रागादि का प्रतिभास होता है, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है ही । और जो रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्प्लवन (उत्पत्ति) है, वह चेतक भाव की समीपता से ही है । क्योंकि आत्मा और रागादि एक द्रव्य नही है । विचार करते हुए रागादि आत्मा से भिन्न ही ज्ञात होते है । जैसे दीपक और घट, दीपक से प्रकाशित होता हुआ घट दीपक नही है पृथक वस्तु है । वैसे ही प्रदीप की दीपकता के समान आत्मा की चेतकता है । यह मानना युक्तियुक्त है । चेतकता रागादि की नही है । इस प्रकार आत्मा व रागादि की परस्पर प्रत्यासन्त्रि तो होती है, परन्तु भेद की सम्भावना तो है ही । इनका अर्थात् आत्मा व रागादि एकत्व का व्यामोह झूँठा है, अत वह प्रज्ञा द्वारा छेद्य (काटने योग्य)-दूर करने योग्य ही है । प्रज्ञा की विशेषता वर्णन करते है —

प्रज्ञा छेत्री विशुद्धा स्वपर-विभजने प्रेरिता साधु पूज्यै,
भेद कृत्वा प्रवृत्ता निजगुण निचय स्वीय धर्मेदधाना ।
मिथ्यावन्धान्निवृत्ता परदलपटले भेदभावं दधात्री,
शुद्ध स्वात्म-स्वभाव परमपदमय कुर्वती भ्राजते सा ॥१॥

व्याख्या —पूज्य जनों द्वारा स्व-पर को पृथक करने में भली प्रकार प्रेरित की गई विशुद्ध प्रज्ञा पृथक्करण में समर्थ होती है । वह स्व-पर को भिन्न करके स्वकीय धर्म में स्वगुण समूह को धारण करती हुई प्रवृत्त होती है । और पर-जड कर्मदलिक राशि मे भेद भाव को धारण करती मिथ्या

मात्र आत्मा है । ऐसा लक्षण करना उचित है । एक लक्षण लक्ष्य होने से समस्त सह और क्रम प्रवृत्त अनन्त पर्याय है वे अविनाभावित्व रूप से है । चैतन्य का जो चिन्मयत्व है, वही निश्चय से आत्मा है । और बन्ध का तो आत्मद्रव्य के साथ असाधारण रागादि जो साधारणतया धारण किये जाते हुये प्रतिभासित होते है, क्योकि ये रागादि सदा चैतन्य चमत्कार से अतिरिक्त प्रतिभासमान रहते है । और जब तक ये रागादि आत्मा के स्वपर्यायव्यापि रूप चैतन्य मे प्रतिभासित होते है, तभी तक रागादि का प्रतिभास होता है, क्योकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है ही । और जो रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्प्लवन (उत्पत्ति) है, वह चेतक भाव की समीपता से ही है । क्योकि आत्मा और रागादि एक द्रव्य नही है । विचार करते हुए रागादि आत्मा से भिन्न ही ज्ञात होते है । जैसे दीपक और घट, दीपक से प्रकाशित होता हुआ घट दीपक नही है पृथक वस्तु है । वैसे ही प्रदीप की दीपकता के समान आत्मा की चेतकता है । यह मानना युक्तियुक्त है । चेतकता रागादि की नही है । इस प्रकार आत्मा व रागादि की परस्पर प्रत्यासन्त्रि तो होती है, परन्तु भेद की सम्भावना तो है ही । इनका अर्थात् आत्मा व रागादि एकत्व का व्यामोह झूँठा है, अत वह प्रज्ञा द्वारा छेद्य (काटने योग्य)–दूर करने योग्य ही है । प्रज्ञा की विशेषता वर्णन करते है —

प्रज्ञा छेत्री विशुद्धा स्वपर–विभजने प्रेरिता साधु पूज्यै,
भेंद कृत्वा प्रवृत्ता निजगुण निचय स्वीय धर्मेदधाना ।
मिथ्याबन्धान्निवृत्ता परदलपटले भेदभाव दधात्री,
शुद्ध स्वात्म–स्वभाव परमपदमय कुर्वती भ्राजते सा ॥१॥

व्याख्या:—पूज्य जनो द्वारा स्व–पर को पृथक करने में भली प्रकार प्रेरित की गई विशुद्ध प्रज्ञा पृथक्करण में समर्थ होती है । वह स्व–पर को भिन्न करके स्वकीय धर्म मे स्वगुण समूह को धारण करती हुई प्रवृत्त होती है । और पर–जड कर्मदलिक राशि में भेद भाव को धारण करती मिथ्या

मोक्ष तत्त्व

॥ मोक्ष प्रकाशक नाम अष्टम अधिकार ॥

प्रविशतिमोक्ष

सम्मदिट्ठी जीवा मोक्खमग्गस्स रोअगा हुंति ।
सिद्धि सुहाओ अन्नं सुह च नो मन्नइ नाणी ॥१॥

व्याख्या — जो जीव सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर चुके है, वे मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपोरूप मुक्तिपथ के रोचक अर्थात् इच्छुक होते है । मिथ्यादृष्टि प्राणी तो स्वरूप का ज्ञान न होने से सुख म भी विपर्यास भाव वाला होता है । अर्थात् पर-भाव, पर-भोग म सुख बुद्धि वाला होता है । और स्वकार्य जो मोक्ष प्राप्ति रूप है, उसे जानता ही नही । यथार्थ ज्ञानी तो सिद्धि सुख के अतिरिक्त अन्य पौद्‌गलिक सुख को सुख नही मानते । इससे ज्ञानी अपने समस्त ज्ञानादिगुणो के निरावरणत्व को स्वकार्य व उसी के कर्तृत्व को सुख मानते है । अत ज्ञानी जो उस सुख के इच्छुक है, वे मोक्षमार्ग के रसिक है । तत्वार्थसूत्र मे मोक्ष का लक्षण इस प्रकार है —

बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्याम् ॥१॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष ॥२॥

अर्थात् बन्ध हेतु—(मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप) ५७ हेतुओ के अभाव व निर्जरा से, समस्तकर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है । सर्वथा कर्मदलिको का अभाव ही मोक्ष है । सर्वगुणो की सम्पूर्ण प्राप्ति ही सिद्धि है । कहा भी है —

"नो दंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मुक्खो नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥"

अर्थ — सम्यग्दर्शनविहीन को ज्ञान नही होता, सम्यग् ज्ञान के बिना सम्यग् चारित्र गुण प्राप्त नही होता । चारित्रगुण रहित को मोक्ष की प्राप्ति

मात्र आत्मा है। ऐसा लक्षण करना उचित है। एक लक्षण लक्ष्य होने से समस्त सह और क्रम प्रवृत्त अनन्त पर्याय है वे अविनाभावित्व रूप से है। चैतन्य का जो चिन्मयत्व है, वही निश्चय से आत्मा है। और बन्ध का तो आत्मद्रव्य के साथ असाधारण रागादि जो साधारणतया धारण किये जाते हुये प्रतिभासित होते हैं, क्योंकि वे रागादि सदा चैतन्य चमत्कार से अतिरिक्त प्रतिभासमान रहते है। और जब तक ये रागादि आत्मा के स्वपर्यायव्यापि रूप चैतन्य मे प्रतिभासित होते है, तभी तक रागादि का प्रतिभास होता है, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है ही। और जो रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्प्लवन (उत्पत्ति) है, वह चेतक भाव की समीपता से ही है। क्योंकि आत्मा और रागादि एक द्रव्य नहीं है। विचार करते हुए रागादि आत्मा से भिन्न ही ज्ञात होते है। जैसे दीपक और घट, दीपक से प्रकाशित होता हुआ घट दीपक नही है पृथक वस्तु है। वैसे ही प्रदीप की दीपकता के समान आत्मा की चेतकता है। यह मानना युक्तियुक्त है। चेतकता रागादि की नही है। इस प्रकार आत्मा व रागादि की परस्पर प्रत्यासन्त्रि तो होती है, परन्तु भेद की सम्भावना तो है ही। इनका अर्थात् आत्मा व रागादि एकत्व का व्यामोह झूँठा है, अत वह प्रज्ञा द्वारा छेद्य (काटने योग्य)-दूर करने योग्य ही है। प्रज्ञा की विशेषता वर्णन करते है —

प्रज्ञा छेत्री विशुद्धा स्वपर-विभजने प्रेरिता साधु पूज्यै,
भेदं कृत्वा प्रवृत्ता निजगुण निचय स्वीय धर्मेदधाना।
मिथ्याबन्धान्निवृत्ता परदलपटले भेदभाव दधात्री,
शुद्ध स्वात्म-स्वभाव परमपदमय कुर्वती भ्राजते सा ॥१॥

व्याख्या —पूज्य जनों द्वारा स्व-पर को पृथक करने मे भली प्रकार प्रेरित की गई विशुद्ध प्रज्ञा पृथक्करण में समर्थ होती है। वह स्व-पर को भिन्न करके स्वकीय धर्म में स्वगुण समूह को धारण करती हुई प्रवृत्त होती है। और पर-जड कर्मदलिक राशि में भेद भाव को धारण करती मिथ्या

का अभाव है और मोक्षाभाव मे निर्वाण का भी अभाव है । मोक्ष के विना सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति नहीं होती; अतएव मोक्ष का उपाय जानने व करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

बधाण च सहाव वियाणिउ अप्पणो सहाव च ।
बंधेसु जो विरज्जइ सो कम्मविमोक्खण कुणइ ॥२॥

व्याख्याः—जो निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उसमे विकार करने वाले बन्धों के स्वभाव को जानकर बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त होता है । शका इस अर्थ से तो आत्मा और वन्ध को पृथक करने वाले मोक्ष का हेतुत्व है । ऐसा नियम होजायगा । अर्थात् आत्मा और वन्ध को अलग करने मे मोक्ष हेतुरुप है यह सिद्ध होगा ? अब किसके द्वारा आत्मा व बन्ध पृथक किये जाते हैं । इसे स्पष्ट करते हैः—

जीवो बंधो अ तहा छिज्जति सलक्खणेहि निययेहि ।
सपन्ना छेयणओ छिन्न णाण मावन्ना ॥३॥

व्याख्या—आत्मा और बन्ध को पृथक करने के कार्य मे आत्मा कर्त्तृत्व करण मानने पर निश्चय से स्वय से भिन्न करना असम्भव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है । वह इस प्रकार कि, उन दोनों के छिन्न होने पर नानात्व अवश्य आजाता है । अत. आत्मा और बन्ध को द्विधा प्रज्ञा से ही करना कहा है । यहाँ शका होती है कि आत्मा और बन्ध चैत्य चेतक भाव से अत्यन्त मिले हुये एकभूत है क्या ? यदि भेदविज्ञान के अभाव से ही चैत्य-चेतक रूप से व्यहृत होता हुआ प्रज्ञा से छिन्न किया जा सकता है क्योंकि नियत स्वलक्षण सूक्ष्मान्तः सन्धि मे सावधान निपातन होता है, ऐसा जानते हैं । सर्व द्रव्यों से भिन्न आत्मा का असाधारण चैतन्य लक्षण है । और वह प्रवृत्त होता हुआ उन उनमे अभिव्याप्त होकर प्रवृत्ति करता हैं । निवृत्त होता हुआ भी उस चैतन्य लक्षण को लेकर निवृत्त होता है । वह सभी सहप्रवृत्त या क्रमप्रवृत्त पर्याय

मात्र आत्मा है। ऐसा लक्षण करना उचित है। एक लक्षण लक्ष्य होने से समस्त सह और क्रम प्रवृत्त अनन्त पर्याय है वे अविनाभावित्व रूप से है। चैतन्य का जो चिन्मयत्व है, वही निश्चय से आत्मा है। और बन्ध का तो आत्मद्रव्य के साथ असाधारण रागादि जो साधारणतया धारण किये जाते हुये प्रतिभासित होते है, क्योंकि वे रागादि सदा चैतन्य चमत्कार से अतिरिक्त प्रतिभासमान रहते है। और जब तक ये रागादि आत्मा के स्वपर्यायव्यापि रूप चैतन्य मे प्रतिभासित होते है, तभी तक रागादि का प्रतिभास होता है, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है ही। और जो रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्प्लवन (उत्पत्ति) है, वह चेतक भाव को समीपता से ही है। क्योंकि आत्मा और रागादि एक द्रव्य नही है। विचार करते हुए रागादि आत्मा से भिन्न ही ज्ञात होते है। जैसे दीपक और घट, दीपक से प्रकाशित होता हुआ घट दीपक नहीं है पृथक वस्तु है। वैसे ही प्रदीप की दीपकता के समान आत्मा की चेतकता है। यह मानना युक्तियुक्त है। चेतकता रागादि की नही है। इस प्रकार आत्मा व रागादि की परस्पर प्रत्यासन्त्रि तो होती है, परन्तु भेद की सम्भावना तो है ही। इनका अर्थात् आत्मा व रागादि एकत्व का व्यामोह झूठा है, अत वह प्रज्ञा द्वारा छेद्य (काटने योग्य)-दूर करने योग्य ही है। प्रज्ञा की विशेषता वर्णन करते हैं —

प्रज्ञा छेत्री विशुद्धा स्वपर-विभजने प्रेरिता साधु पूज्यै,
भेद कृत्वा प्रवृत्ता निजगुण निचय स्वीय धर्मेदधाना।
मिथ्याबन्धान्निवृत्ता परदलपटले भेदभाव दधात्री,
शुद्ध स्वात्म-स्वभाव परमपदमय कुर्वती भ्राजते सा ॥१॥

व्याख्या —पूज्य जनों द्वारा स्व-पर को पृथक करने मे भली प्रकार प्रेरित की गई विशुद्ध प्रज्ञा पृथक्करण मे समर्थ होती है। वह स्व-पर को भिन्न करके स्वकीय धर्म मे स्वगुण समूह को धारण करती हुई प्रवृत्त होती है। और पर-जड कर्मदलिक राशि मे भेद भाव को धारण करती मिथ्या

वन्ध से निवृत्त होती है । वह शुद्ध आत्मस्वभाव को परमपदमय बनाती हुई शोभित होती है ।

अव आत्मा व कर्मवन्ध को पृथक करके क्या करना चाहिये उसे कहते हैं.—

जीवो वधो अ तहा भित्तूण सलक्खणेहि णिअएहिं ।
वधो छेयेअव्वो, सुद्धो अप्पा य छेत्तव्वो ॥४॥

व्याख्या.—प्रश्न होता है कि किस उपाय से उस आत्मा को ग्रहण किया जाय ? उत्तर यह है कि प्रज्ञा—अर्थात् प्रकर्ष वुद्धि से ही शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि शुद्ध आत्मा को ग्रहण करते हुये और पर से विभक्त करते हुये प्रज्ञा ही कारणभूत है । अत. जिस प्रज्ञा से विभक्त हुआ आत्मा उपलक्षित होता है, उसी प्रज्ञा से ग्रहण करने योग्य है । सम्यग्ज्ञान से विभक्त करके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपने अनन्त गुण–पर्यायरुप मे रमण करना चाहिये । उसी मे स्थिर उपयोग जिसका हो जाता है; वह नवीन कर्मो से लिप्त नहीं होता ।

अव प्रज्ञा से आत्मा कैसे ग्रहण किया जाय ? यह कहते हैं —

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेआ सो अह तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा, ते न मज्झ पर त्ति णायव्वा ॥५॥

व्याख्या.—जो वास्तव मे स्वलक्षणावलम्बिनी प्रज्ञा से विभक्त किया गया चेतन है 'वह ही मै हूँ, और मेरा कार्य ज्ञायकत्वादि है । और जो ये अविशिष्ट अन्य भाव हैं वे अपने लक्षण से लक्ष्य हैं । और वैसे ही व्यवहृत होते हुये दिखते हैं, वे सभी व्यापक चेतनत्व का व्याप्यत्व न मिलने से मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, अत मै ही, मेरे द्वारा ही, मुझको ही, मुझ से ही, आज ही मुझको, ग्रहण करता हूँ । वह चेतन अनेक क्रिया वाला होने से आत्मा को चेताता हुआ ही चेतता है । चेतायमान होने पर चेत जा ! अर्थात् चिन्मय ज्ञानमय होजा ! क्योंकि चेतायमान को चेताता हूँ । चेतायमान से ही चेताता हूँ, चेतमान को ही चेताता हूँ । अथवा जो

अचेत है, सावधान नहीं है, उसे भी चेतना से चेताता–सावधान करता हूँ। न मै जड हूँ, न जड का भोगी हूँ, किन्तु सर्वथा विशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ।

ज्ञात्वा स्व च पर च लक्षणवशाद् भेद च कृत्वा द्विधा,
ज्ञानानन्दमय महोदयपद सगृह्य य सस्थित ।
सोऽह कारकचक्रतो निजगुणे तादात्म्यभाव गत,
सत्ताऽऽविष्करणाद्विशुद्ध ममल रूप स्वकीय श्रित ॥२॥

अर्थ —जो आत्मा स्व और पर को उनके लक्षण से जानकर दोनों में भेद करके दोनों को पृथक करके, अपने ज्ञानानन्दमय महोदय पद को, सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके, सुष्टु प्रकार से स्थित होगया है। वह मै कारक चक्र–कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण से निज गुण मे तादात्म्यभाव को प्राप्त हो गया हूँ। और सत्ता का आविष्कार-(प्रकट) हो जाने से अपने विशुद्ध मलरहित रूप को पा गया हूँ।

चेतना से ज्ञान–दर्शन के विकल्पो को अतिक्रमण करने से चेतयितृत्व के समान द्रष्टत्व ज्ञातृत्व को जानकर उन्हे आत्मा का स्वलक्षण जाने। अर्थात् ज्ञातृत्व द्रष्ट्रत्व तो आत्मा के ही लक्षण है। अत मै द्रष्टा आत्मा को ग्रहण करता हू। जिसे ग्रहण करता हूँ, उसे देखता हूँ। देखता हुआ देखता हूँ, देखने वाले को ही देखता हू, अथवा पर को न देखता हुआ देखता हूँ। न देखते हुये को देखता हूँ, किन्तु सर्व विशुद्ध दृग् मात्र भाव हूँ। और ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूँ, जिसे ग्रहण करता हूँ, उसे जानता हूँ, जानते हुये को जानता हूँ, न जानते हुये को भी जानता हूँ, किन्तु सर्व विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ। यहाँ शका करके प्रश्न करते है कि चेतना जो दर्शन–ज्ञान विशेषात्मिका होने से कैसे दानो रूपो का अतिक्रमण कर सकती है ? और जो चतना क दो रूप है, वे दर्शन–ज्ञान से है, अत उनका अतिक्रमण नही हो सकता। जो भी

व्यतिक्रम होता है, वह सामान्य विशेष अवबोध से अतिक्रान्त हो जाय तो चेतना ही नहीं रहती और चेतना के अभाव मे दो दोषों की आपत्ति हो जाती है.— (१) स्वगुणोच्छेदी चेतन के अचेतनता की आपत्ति होती है, अथवा (२) व्यापक भाव मे व्याप्य चेतन का अभाव हो जाता है । अत इन दो दोषों के भय से दर्शन-ज्ञानात्मिका ही चेतना स्वीकार करनी चाहिये । इस प्रकार चेता तो चिन्मय ही ही । अन्य सभी भाव पर-जड के हैं, अत अपना ही भाव ग्राह्य है । अन्य सर्व हेय है ।

एकस्मिन्नपि जीवद्रव्यविषये वृत्तिर्द्विधा वर्णिता,
सज्ज्ञाना निजचेतना विदधति भावान्विशेषात्समान् ।
सामान्याखिलभाववेदनपरा सद्दर्शनाचेतना,
तत्त्यागे जडता भवेदिति ततश्चैतन्यवान् चेतन· ॥३॥

अर्थ.—एक जीवद्रव्य मे दो प्रकार की वृत्ति वर्णन की गई है.— एक सज्ज्ञान रूप चेतना है, जो विशेषता से सर्व भावों को जानती है । दूसरी सद्दर्शनारूप चेतना है, वह सामान्य से अखिल भावों को जानती है । इन दोनों का त्याग कर देने से तो जड़भाव की प्राप्ति हो जाय ? अत चेतन ज्ञान दर्शनमय चेतनावान् है ।

को दक्खो त पभणइ जो परभावं नियत्ति मन्नेइ ।
जो परभाव गिण्हइ सो तेण होइ अवराही ॥६॥
अवराही सो बज्झति निरवराही न बज्झइ कयावि ।
जो नियसहाव भोई सो निस्सको सया सुहओ ॥७॥

व्याख्याः—जो पर-भाव को अपना मानता है उसको दक्ष (चतुर) कौन कह सकता है ? क्योंकि जो परभाव को ग्रहण करता है, वह अपराधी चोर है । "जो अपराधी है, वही बॉधा जाता है निरपराधी कभी नहीं बाँधा जाता ।" जो निज-स्वभाव भोगी है, वही नि·शक तथा सदा सुखी है । साराश कि जैसे अपराधी कभी निःशक और सुखी नहीं रह

सकता वैसे ही परभाव भोगी भी सुखी नहीं रह सकता । स्वभाव भोगी ही सुखी रह सकता है ।

जो पर-जड और आत्मा के नियत अपने अपने लक्षणों को जानने वाली प्रज्ञा से युक्त है, वही वास्तव में ज्ञानी है । वह निश्चित रुप से एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है । शेष समस्त भावों को जड, पर के जानता है । इस प्रकार जानता हुआ पर भावो को 'मेरा' कैसे कहे ? क्योंकि पर-जड और आत्मा का स्व-स्वामी सम्बन्ध असम्भव है । जड पुद्गल आत्मा की अपनी वस्तु नही । जो अपनी नहीं उसका कोई अपने आपको स्वामी कैसे कह या मान सकता है । अत सर्वथा चिद् भाव ही ग्रहण करने योग्य है । शेष सर्व त्यागने योग्य है ।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तबुद्धिनिपुणे सौख्यार्थिभि सेव्यता,
तत्वज्ञानमय सदैव परम शुद्धस्वरूप्यस्म्यहम् । ।
एते स्वात्म-विलक्षणा जडमया द्रव्या पृथग् लक्षणा,
स्ते मे नास्ति स्वरूपतो मम परद्रव्या समग्रा अपि ॥४॥

अर्थ —यह सिद्धान्त उदात्तबुद्धि निपुण सौख्याभिलाषियों को सेवन करना चाहिये कि "मैं सदैव तत्वज्ञानमय, श्रेष्ठ और शुद्ध स्वरूप वाला हूँ, और ये मेरे आत्मा से विलक्षण-आत्मलक्षणविहीन जडमय द्रव्य मुझसे भिन्न लक्षण वाले है, वे मेरे नहीं, ये सभी परद्रव्य-जडवस्तुएँ स्वरूप से मेरी नहीं ।" पर पर ही रहता है, वह स्व कभी नहीं हो सकता । अत-स्व ही मेरे है । वे मुझ में ही हैं ।

जो पर भावो को ग्रहण करता है, वह चोर होता है । जो चोर है, वह अपराधी है, जो अपराधी है वह बाँधा जाता है । जो चोर नहीं है वह अपराधी भी नहीं । जैसे—जगत् मे जो परधन ग्रहण रूप अपराध करता है, उसे ही बँधने की शंका भय रहता है । जो पवित्र है, चोरी नहीं करता, उसे बँधने की शका भी नहीं होती । वैसे ही जो आत्मा अशुद्ध होता हुआ, पर-जड का ग्रहण करता है उसे बध की शंका होती

है । जो शुद्ध है, पर वस्तु–जड़ को ग्रहण नहीं करता, उसके शका का भी सम्भव नहीं होता । ऐसा नियम है । अत. सर्वथा समस्त परकीय भाव के परिहार से शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिये । वैसा होने पर ही आत्मा का निरपराधित्व है । और जो निरपराधी चेतन है, वह निःशक तभी रहता है जबकि नित्य आराधना–पूर्वक रहता है । उसे तो परद्रव्य परिहार से शुद्धात्म–सिद्धि के सद्भाव से वन्ध की शका का सम्भव ही नहीं । अत. "एकमात्र उपयोगलक्षण शुद्ध आत्मा मै हूँ" ऐसा निश्चय करता हुआ, नित्य ही शुद्धात्म सिद्धि लक्षण आराधना मे वर्तता हुआ, होने से आराधक ही होता है । जैसे कि:—

विषयसुखपिपासा-वर्त्तमानस्य जन्तोः
जिनवरकथिता सत्साधनादि क्रियाऽपि ।
भवति हि भवहेतुः पुद्गलास्वाददोषान्
निजपरिणति रगा साधना सिद्धि हेतुः ॥५॥

अर्थ.—विषयसुख की अभिलाषा–लालसा मे वर्त्तते हुये प्राणी के भगवान् जिनेश्वर देव द्वारा कही गई सत्साधनादि क्रिया भी पुद्गलास्वाद–दोष से ससारवृद्धि की निश्चय ही हेतु होती है । सिद्धि–मुक्ति की हेतु तो निजपरणिति–ज्ञानदर्शन रूप से परिणत होती हुई व उन्हीं के रग मे रँगी हुई साधना ही होती है ।

अत· आवश्यकादि–प्रतिक्रमणादि क्रिया भी निरनुष्ठान ' ज्ञानी के शुद्ध साध्य के अवलम्बन से ही सिद्धि की हेतु बन जाती है । और जो अज्ञानी जनसाधारण के प्रतिक्रमणादि है, वे शुद्धात्म साध्य के अभाव मे सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाली स्वय अपराध स्वरूप होने से विषकुम्भ ही है । विचार करने से क्या होने वाला है ! जो एकान्त से द्रव्य रूप है, वह विधि रहित प्रतिक्रमण है, वह उस प्रकार के ¯न्ध का हेतु भी नहीं है, जैसा कि विधियुक्त किया गया प्रतिक्रमण,

जो पुण्य बन्ध का हेतु ही होता है, तथापि शुद्ध सिद्धत्व साध्य शून्य व्यक्ति के वह सर्व अपराध रूप विषवृक्ष को कर्षण करने मे असमर्थ होने से अमृतकुम्भ जैसा होने पर भी प्रतिक्रमण, कार्यरूप सवर निर्जराभूत उस प्रकार की तृतीय भूमि को नहीं देखता हुआ, स्वकार्य करने में असमर्थ होने से व विपक्ष–पुण्यबन्ध का कार्य करने वाला होने से असाधक ही है । निरनुष्ठान ज्ञानी के विधिसहित भाव–विशुद्धि से साध्य सापेक्ष जन के प्रतिक्रमणादि स्वय शुद्धात्मा सिद्धि रूपत्व से सर्वापराधरूप विष दोनों को सर्वथा खेचकर दूर कर देने वाला होने से साक्षात् स्वत ही अमृतकुम्भ होजाता है । व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि का अमृतकुम्भत्व वहीं सिद्ध कर देता है । और उसी क्रिया के द्वारा निरपराध (पापरहित) होजाता है । अथवा चित्त मे भाव विशुद्धि का अभाव है, तो द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही रहते है । अत तृतीय भूमिका से ही निरपराधित्व है । यह सिद्ध होता है । उसी की प्राप्ति के लिये यह द्रव्य प्रतिक्रमणादि क्रिया है ।

अत साध्य के अवलम्बन द्वारा ही सर्वज्ञोक्त विधि सापेक्ष प्रतिक्रमणादि ही साधक स्वरुप है ।

प्रतिक्रमण, आलोचन, क्षामणा और प्रत्याख्यान उनपचास (४९) भाँगों से किये जाते है । वे बागें निम्नाङ्कित है —

'तिन्नि तीया तिति दुआ तिनि क्किक्काय हुति योगेसु ।
ति दु इक्क ति दु इक्क हुति करणेसु ॥१॥
पढमे लब्भइ एगो सेसेसु पए सु ति अ ति अ नि अं नि।
नव नव तितिग नव नव भंगा गुणवन्ना विरइए ॥२॥

अर्थ —इनमे से प्रथम भग त्रिविध त्रिविध से अर्थात् मनो वाक् काय से करना कराना और अनुमोदना रूप है, वह नवकोटि विशुद्ध मुनियों के होता है । वे मन, वचन और काय–इन तीनों योगों से सावद्य कार्य न करते है, न कराते है, और न सावद्यकार्य की अनुमोदना करते है ।

एतल्लक्षण त्याग सर्व विरतियों के है । तथा मनोवाक् काय योगोंद्वारा जो सावद्य कार्य न स्वयं करता है न कराता है, यह प्रत्याख्यान उत्कृष्ट देशविरति श्रावकों के होता है । (जबकि वे सामायिक पौषध में या इग्यारवीं प्रतिमा के धारक हों) उनके योगत्रिक से सावद्य की अनुमोदना शेष रहती है । करने और कराने की नहीं, और यह सामायिक पौषधादिस्थित देशविरति के ही होता है, उन्हीं के करने का प्रत्याख्यान है । वह स्वाधीन ऐश्वर्यवान् श्रावक आत्मा के द्वारा पराधीन दासादि द्वारा किये जाने वाले कार्य में अनुमोदन रूप होता है । अनुमोदन का प्रत्याख्यान मूल गुण वाले देशविरति के लिये अशक्य व दुर्लभ ही है । अनुमोदन न रहे तो मुनित्व का प्रसङ्ग आ जाता है । वह दिग्व्रती[1] अणुव्रतचारी नहीं रहता । अर्थात् श्रावक नहीं रह जाता । उत्तर गुण में तो विगय सचित्तादि के प्रत्याख्यान में अनुमोदना का प्रत्याख्यान गृहस्थव्रती के भी सम्भव ही है । यहाँ प्रश्न होता है कि उत्तरगुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान में निर्ग्रन्थो-साधुओं के भी सर्व भाँगों का सम्भव क्यों नहीं होता है ? उसका उत्तर यों है —

यद्यपि निर्ग्रन्थों के आहार उपधि आदि का ग्रहण है; तदपि वह स्वगुणरक्षण और गुणिजनों की वैयावृत्त्य-सेवादि के लिये ही है; अत उसकी निरवद्यता ही है । मुनि विषय कषायादि की वृद्धि के लिये आहारादि का ग्रहण नहीं करता । विषय कषाय की वृद्धि या शरीर राग से कवल मात्र ग्रहण करना भी सावद्यत्व ही है । कदाचित् सकल्पमात्र भी हो जाय तो दूर करना है । परिणत तो करना ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये । परिस्थिति का उच्छेद हो जाने पर तो उसे करने का उपदेश ही है । क्योंकि 'सव्व समाहिवत्तियागारेण' का आगार दिखता ही है । सर्वसमाधि का अर्थ है 'मरण न होना' । मरण दो प्रकार का है:— द्रव्यत भावत. । द्रव्यत आहारत्यागलक्षण मरण और भावत सम्यग्

---

[1] अणुव्रतचारी

[illegible] की हानि रूप होता है। उसे वारण करने के लिये आहारादि [illegible] है, वह करने योग्य ही है। जिसके विकल्पादि से उस परिणति द्वारा [illegible] का ध्वसन (नाश) हो, ऐसी सावद्यादि की सेवना हो तो उस विकल्प को दूर करने के लिये अपवाद का सेवन नही है। निशीथचूर्णि में कहा है —

"जोग विगप्पा खलु निमित्तजोगस्स भवति, निमित्तच्चाये न भवति। तम्हा निमित्त परिहराओ, नायवायसेवणं। निमित्ता भावे वि जे वियप्पा सज्झाय ज्झाण बाधगा अहवा सुअसंपन्नस्स पाणच्चाय रोगादि कारणा, अहवा पुप्फादि [illegible] हवयो, तव्वारणाय अववाओ वुत्तो।

अर्थ — वास्तव में योग विकल्प निमित्त योग से होते है। निमित्त का त्याग कर देने पर नही होते। अत निमित्त का परित्याग करदे, पर अपवाद का सेवन नही। निमित्त के अभाव में भी जो विकल्प स्वाध्याय ध्यान के बाधक है, अथवा श्रुत सम्पन्न मुनि के प्राणत्याग या रोगादि के कारण है, अथवा पुष्पादि में व्याघात के हेतु है, उन्हे वारण करने के लिये ही अपवाद सेवन कहा गया है।

इस प्रकार निर्ग्रन्थों के आहारादि सभी प्रशस्त रूप है। अत [illegible] नही। इत्यादि होने पर भी त्रिविध त्रिविध प्रत्याख्यान का उच्छेद नही होता। कहा भी है —

"चरणकरण जिनेन्द्र ससमय परसमय लद्धसाराणं।
[illegible] अ पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥"

अर्थ — स्वसमय-जिनेन्द्र के सिद्धान्तो और परसमय-अन्यदर्शनियो के सिद्धान्तो का सार जानने वाले, निश्चय का अवलम्बन लेते हुये जो [illegible] किया है अर्थात् प्रमाण किया है, [illegible] है।

नहीं । द्रव्य भाव दोनों से जो नवकोटि प्रत्याख्यान है; वह तो मुनियों के ही होता है ।

प्रतिक्रमण तो आत्मा को परभावों से अपकर्षण (हटाने) रूप है । परभाव ग्रहण रूप दोष जो अकरणीय है, वे हा ! कैसे हो गये ! इत्यादि पश्चात्ताप करना आलोचना है । क्षामणा है, जो न करने योग्य अविनय आशातनादि या किसी को कष्ट पहुँचाना आदि हो जाने पर समीप जाकर हार्दिक नम्रतापूर्वक क्षमा माँगी जाती है ।

ये सभी निरनुष्ठान ज्ञानी के शुद्ध विधि से साधक के लिये हैं; तो सवर-निर्जरा रूप है । निरूनुष्ठानों को साध्य का अवलम्वन लेने के लिये तथाविध विधि के अभाव मे भी सवर निर्जरा रूप है । साध्य शून्य निरनुष्ठान वालों को पुण्य वन्ध कराने वाले है । वे यदि धमार्थ हैं; तो ससारपरित्तता के हेतु हैं । यथाविधि न होने पर भी धर्मार्थ किये गये ये अशुद्ध करने पर भी त्यागादि क्षयोपशम के हेतु हैं । तत्काल गुण प्राग्भाव भले न हो, तथापि सानुष्ठानों के धर्मनिष्पादन व गुण प्राग्भाव का हेतुत्व इनमे ही है । सामान्य बुद्धिविहीन जनों के तो ये बालक्रीड़ावत् हैं, यह जानना चाहिये । उस प्रकार बुद्धिहीन जनों मे इनके करने पर किन्हीं को गुण लाभ देखा जाता है, और वह तत्काल स्वाभाविक रूप से किया गया अनुष्ठान त्याग मे, धर्म मे, अभिलाषा होने पर गुण की उपलब्धि भी है ही; क्योंकि पौद्‌गलिक सुखों की आशसा दोष रूप है, वह नहीं होती । और जो पहले विधि रहित अनुष्ठान करने वालों को भी वैसा करने का उपदेश किया गया है । वह तो उन मोहग्रस्त जीवों को सत्सगादि का निमित्त है· क्योंकि कभी सत्सगति से धर्म की प्राप्ति भी होगी । जैसे नागिला के पति भवदेव की प्रवज्या जो द्रव्य थी, वह भी भविष्य मे शासनप्रभावनादि के लिये बन गई । क्योंकि 'गुरुणो जाणति गुणा' इस वाक्य से यह सिद्ध है कि क्या गुण है ? यह तो गुरुजन ही जान सकते । तथा अभ्यास आदि के लिये की गई क्रिया भी उस प्रकार के

व्यक्तियो को यद्यपि उस अवसर पर गुणित्व के लिये नहीं बनती, फिर भी अभ्यास के लिये धर्म को प्रकट करने की इच्छा सभी को करने योग्य है । तथापि सवरत्व तो यथार्थ मार्ग मे ही है । इत्यादि कहा गया है । जैसे महानिशीथ-अध्ययन में मुखवस्त्रिकादि लक्षणयुक्त भी द्रव्यलिङ्गी असयत कहे गये है । एव अतिमुक्त निर्ग्रन्थ के अधिकार मे, अतिमुक्त ने जलक्रीडा की आलोचना तक भी नहीं कि फिर भी केवलज्ञान हो गया । तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र परिणतात्मा आवश्यकादि क्रिया मे उपयोग सहित प्रवृत्त हुआ, पूर्वकर्म की निर्जरा करता हुआ, संवरी, अप्रमत्तदशा मे स्थित है, धर्मध्यान के अवलम्बन से क्षायिक परिणाम को प्राप्त असख्य गुण विशुद्धि से असंख्यगुण निर्जरा वाला होता है । क्षायक श्रेणी का स्वरूप यो है —

अणमिच्छमीस सम्मतिआउ इग विगल थीण तिगुज्जो अ ।
तिरि नरय थावर दुग साहारायव अडनपुत्थीए ॥९९॥
छग पु सजलणा दो निद्द विग्धावरण क्खए नाणी ।

(पचमकर्मग्रन्थ)

अर्थ —अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्र, मोहनीय सम्यक्त्व मोहनीय, मनुष्यायु के बिना तीन आयु, एकेन्द्रियजाति विकलत्रयजाति, स्त्यानर्द्धि त्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि) उद्योत, तिर्यञ्चगति, तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, नपुसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यषट्क, पुरुषवेद, संज्वलन कषाय चतुष्क, निद्रा, प्रचला, पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, और चार दर्शनावरण इन ६३ प्रकृतियों का क्षय करने पर जीव केवलज्ञानी होता है । विस्तृत स्वरूप कर्मग्रन्थ में देखना चाहिये । यहाँ केवल क्षय होने वाली प्रकृतियो के नाम मात्र दिये है । पुन प्रतिक्रमण की महत्ता बतलाते है । कहा है कि —

"कम्मं ज पुव्वकयं, सुहासुह मणेय वित्थरविसेस ।
तओ णियत्तए अप्पयं त जो सो होइ पडिक्कमण ॥"

अर्थः—शुभ अशुभादि रूप अनेक विस्तार विशेष रूप जो पूर्वकृत कर्म हैं; उनसे आत्मा को निवृत्त करदे-पृथक्, करदे-वही वास्तविक प्रतिक्रमण है ।

जो आत्मा प्रमादयुक्त है, वह शुद्ध भाववाला कैसे हो सकता है ? कषाय के भाव की गुरुता से जो अलसता होती है, वही प्रमाद है । अत. स्वरस, निर्भर नियमित स्वभाव को प्राप्त होता हुआ मुनि परमशुद्धता को पाता है । और शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । यह कैसे होता है ? वही वतलाते है.—

त्यक्त्वा स परद्रव्य प्रचारभोग, स्वद्रव्यभोगाद् लभते स्वरूपम् ।
सर्वापराधत्यजनेन शुद्ध स्तत्वामृतास्वादरतो विशुद्धः ॥६॥

अर्थ.—जो परद्रव्यपुद्गल के प्रचार भोग का परित्याग करके, स्वआत्म द्रव्य के भोग से स्वरुप को प्राप्त करता है, वह सर्व अपराध दोष-पाप को छोड देने से शुद्ध हुआ, तत्वामृत के आस्वादन मे लगा हुआ विशुद्ध वन जाता है । विशुद्धात्मा के वन्ध का अभाव हो जाता है । सिद्ध कैसे होता है ? यह कहते हैः—

बन्धाभावान्निजपदगतोनिर्जरत्कर्ममुक्तो,
नित्योद्योत स्फुरित सहजावस्थमात्मस्वरूपम् ।
कृत्वा भुञ्जन् गुणपरिणतिं सच्चिदानन्दमग्नः
शुद्धः सिद्धों जयति नियत दर्शनज्ञानलीनः ॥७॥

अर्थ.—वन्ध के अभाव से स्वरूप को प्राप्त आत्मा निर्जरते हुये अर्थात् आत्मा से पृथक होते हुये कर्मो से मुक्त हो जाता है । और नित्य उद्योतित स्फुरित सहज अवस्था वाले आत्मस्वरूप को प्रकट करके गुणपरिणति को भोगता हुआ सच्चिदानन्द मे मग्न वन जाता है । ऐसा शुद्ध नियत दर्शनज्ञान मे लीन सिद्ध जयवन्त है ।

इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचितेऽध्यात्मप्रबोधेऽपरनामदेशनासारे मोक्षनिरूपणोनामाऽष्टमोऽधिकारः ।

॥ मोक्ष प्रकाशक शुद्धोपदेश नाम नवम अधिकार ॥

जो आत्मा सद्गुरु के वचनोपदेश सुनने से शुद्ध साधना के उद्यम मे लगा हुआ है, पूर्ण शुद्धानन्द को सिद्ध करना चाहता है और तत्व प्राप्त करने का अभिलाषी है, वह जिज्ञासु बना हुआ मोक्ष मार्ग के अभिमुख होता है ।

कत्ता भोत्ता भावो नो परभावाण क पि दव्वम्मि ।
अन्नाणेण जीवे न नाणे तस्सओ अभावो ॥१॥

व्याख्या —किसी भी द्रव्य में परभावो का कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है । अत परभाव कर्तृत्व जो जीव में हो गया है, वह अज्ञान से है । जीव के ज्ञान के अभाव मे हुआ है । यथार्थ ज्ञान होने पर उसके परभाव के कर्तृत्व का अभाव हो जाता है । अत यथार्थ ज्ञान मे कर्तृत्वादि भाव चले जाते है ।

दव्वा ज उप्पज्जइ त गुणं तेण सो अभिन्नोत्ति ।
जह कुडलाइ भावे कणय एगत्तणेणेव ॥२॥
जीवस्साजीवस्स उ जे सभावा पयासिया सुत्ते ।
जीवाजीवा दव्वा तेसिमभिन्ना वियाणाहि ॥३॥
संजोगे जे जाया तेन कज्जं तु तस्स दव्वस्स ।
कारणजोगे सति कारण चाए न ते हुति ॥४॥
कज्ज पडुच्च कत्ता कत्ताणं तह पडुच्च कज्जाणि ।
उप्पज्जति णियमा सिद्धि उ न दीसइ अन्ना ॥५॥

व्याख्या—द्रव्य से जो उत्पन्न हो, वह उस द्रव्य का गुण होता है और वह उस द्रव्य से अभिन्न होता है जैसे कुण्डलादि भाव मे स्वर्ण की एकता है । जीव और अजीव के जो जो स्वभाव सूत्र में प्रकाशित किये है, उन उन से जीव अजीव द्रव्यो को अभिन्न जानना चाहिये । संयोग से

जो हो गये वे उस द्रव्य के कार्य नहीं; क्योंकि वे निमित्त कारण से होते हैं। जैसे जीव के मिथ्यात्वादि कारणों से वन्ध होता है और उन कारणों के न होने पर वन्ध भी नही होता। जीव के स्वभाव ज्ञानादि हैं, और अजीव के जडत्वादि।

कार्य का उद्देश्य करके कर्त्ता और कर्त्ता के आधीन कार्य उत्पन्न होता है। ऐसा नियम है। क्योंकि जीव भी क्रमनियमित आत्म-परिणामो से उत्पन्नमान होने से जीव है। इसी प्रकार अजीव भी अजीव के क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। अन्य नहीं। सर्व द्रव्यों के अपने अपने परिणामों से उत्पद्यमान भावों के होने से जीव अजीव के साथ कार्यकारण भाव सिद्ध नही होता है। क्योंकि सभी द्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पादक भाव का अभाव है। यदि ऐसा न होता तो जीव का अजीवकर्तृत्त्व सिद्ध हो जाता, और कर्त्ता कार्य तो अन्योन्य सापेक्ष है; अत. 'जीव अजीव कर्त्ता नहीं।' यह जानना योग्य है। वह आत्मा अनादि काल से ही प्रतिनियत स्वलक्षण ज्ञान के आवृत रहने से स्वपर के एकत्व अभ्यास के कारण कर्त्ता बना हुआ, प्रकृति निमित्त उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मता मरता है। तथा प्रकृति भी शरीरादि जड भी उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होती है। इस प्रकार आत्मा व प्रकृति का कर्त्ता और कार्य मे भाव अभाव भी अन्योन्य निमित्त नैमित्तिक भावों द्वारा है इससे दोनों का ही पारस्परिक सम्वन्ध होता है; और इसी से ससार-जन्ममरण है। तथा इसी कारण से चेतन का कर्त्ता कर्म व्यवहार है।

जब तक यह आत्मा प्रतिनियत स्वलक्षण के अज्ञान से उदयागत प्रकृति विपाक को स्वत्वरूप से भोगता हुआ, आत्मा के वन्ध होने के निमित्त मिथ्यात्वादि को नहीं छोड़ता, तब तक स्वपर के एकत्व का ही ज्ञायक रहता है, और स्वपर के एकत्व निर्धारण के कारण मिथ्यादृष्टि रहता है अथवा स्वपर की एकत्व परिणति से ही असयत बना रहता है। तथा तब तक ही पर और आत्मा के एकत्व का अभ्यास करने से

पर कर्त्ता होता है । और जब यही आत्मा प्रतिनियत स्वलक्षण निज ज्ञानादि से प्रकृति और उसके विपाक को परत्व से जानता हुआ, बन्ध के निमित्तो का परित्याग कर देता है तब स्व पर को स्व ज्ञान द्वारा भिन्न जानने वाला हो जाता है । और उसी प्रकार के निर्द्धारण से सम्यग्दृष्टि बनता है । तथा स्वपर के विभाग की परिणति से सयत-सयमी वन जाता है । और तभी स्वपर के एकत्व का अभ्यास न होने से पर का अकर्त्ता होता है ।

कर्तृत्व भुञ्जकत्व च पराणा न स्वभावजा ।
अज्ञानज परिणाम ज्ञानोदये निवर्त्तते ॥१॥

अर्थ —परवस्तुओ का कर्तृत्व और भुञ्जकत्व आत्मा के स्वभाव से नही होता, वह भाव-कर्त्ता भोक्ताभाव तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ परिणाम है जो ज्ञान से ही अथवा ज्ञान का उदय होने पर हटता है ।

अन्नाणी कम्मफलं णियरुव जाण भुजेइ ।
नाणी कम्मविवाग भुजतो नो रमइ तत्थ ॥६॥

व्याख्या —वास्तव मे अज्ञानी शुद्ध आत्मज्ञान के अभाववश स्वपर के एकत्व ज्ञान से और स्वपर की एकता के निर्द्धारण (निश्चय) से तथा स्वपर की एकत्व परिणति से प्रकृति स्वभाव में स्थित होने के कारण प्रकृति स्वभाव को अहतया (मैं रूप) अनुभव करता हुआ कर्मबन्ध करता है । ज्ञानी शुद्ध आत्मज्ञान के सद्भाव से स्वपर के विभाग ज्ञान से, वैसा ही निद्धारण करने से और स्वपर की एकत्व अपरिणति से प्रकृति-जड स्वभाव से दूर हटा हुआ होने से, शुद्ध आत्मस्वभाव को ही अहतया अनुभव करता हुआ, कमफल के उदय को ज्ञेयमात्र रूप जानता है । उस कर्म का अहतया अनुभव नही करता । अर्थात् शुभाशुभ उदय में ऐसा अनुभव नहीं करता कि मै सुखी दुखी हूँ । अत उस आत्मज्ञानी के वेद्यमान कर्म होने पर भी अव्यापकता होने से वह अबन्धक ही रहता है । अज्ञानी तो विपाक भोग मे रमण से नित्य बन्धक होता है । ज्ञानी

जो कि स्वात्म-गुणों मे रमण करता है; कदापि बन्धक नहीं बनता । यही कहते हैः—

अज्ञानी तु विपाक भोगरमणान्नित्य भवेद् बन्धको,
ज्ञानी स्वात्मगुणेषु रम्य रमणी नो जातुचित् बन्धकः
इत्येवं नियत विभज्य विबुधैरज्ञानता त्यज्यता,
शुद्धे स्वात्मधने रमन्ति निपुणाः सेवन्ति सज्ज्ञानताम् ॥१॥

अर्थः—अज्ञानी तो विपाक भोग मे रम जाने से सदा बन्धक रहता है, और ज्ञानी स्वात्म-गुणों मे रमकर उन्हीं मे रमण करता है, अतः वह कदापि बन्धक नही होता । ऐसा निश्चय से है अतः पण्डितजन स्वपर का विभाग करके अज्ञानता का परित्याग करें । निपुण व्यक्ति वे ही है, जो अपने शुद्ध आत्म-धन मे रमते हैं और उत्तम ज्ञान का अभ्यास करते हैं, या सेवा करते है ।

जैसे यहाँ ससार मे विषधर (सर्प) शर्करामिश्रित दुग्ध पिलाने पर भी विषभाव का परित्याग नही करता; वैसे ही निश्चित रूप से अभव्य जीव अनेक शास्त्रो का अभ्यास कर लेने पर भी मिथ्याज्ञान से अज्ञानी होने के कारण पुद्गल भोगित्व से विरक्त नहीं होता । ज्ञानी तो यथार्थ श्रुतज्ञान लक्षण है, शुद्ध अत्मज्ञान के सद्भाव से परपुद्गल-जड़ से अत्यन्त विरक्त होने के कारण परभोगित्व को स्वय ही छोड़ देता है । मधुर अथवा कटुक उदय मे आये कर्म फल का ज्ञाता होने से केवल ऐसा जानता है, न कि उन्हें अहतया अनुभव करता है । अतः ज्ञानी स्वरूप मे ही रमता है । वास्तव मे ज्ञानी कर्मचेतना शून्यत्व द्वारा व कर्मफल शून्यत्व से स्वय अकर्त्तृत्व रूप होने से और अवेदित्व होने से न कर्म करता है, न वेदता है; किन्तु ज्ञान चेतनामयत्व से केवल ज्ञातारूप होने से कर्मबन्ध और कर्मफल को वह शुभ हो या अशुभ, मात्र जानता है । स्वामित्वभाव से ग्रहण नहीं करता; अतः अबन्धक है ।

दिट्ठि जहेह णाण अकारय तह अवेदय चेव ।
जाणाइ अ बध मुक्ख कम्मुदय निज्जर चेव ॥७॥

व्याख्या—जैसे इस लोक मे दृष्टि दृश्य से अत्यन्त विभक्त (पृथक) होने से उस दृश्य को करने या वेदने में असमर्थ होने के कारण दृश्य को न करती है, न भोगती है। क्योकि यदि कर्तृत्व भोकृत्व माना जाय तो अग्नि के देखने से सन्धुक्षकवत् (लोहार की भाति) स्वय अग्नि जलाने वाले को भी लोह पिण्डवत् उष्णता के अनुभवन का दुर्निवारत्व प्राप्त होगा। किन्तु दृष्टि का स्वभाव मात्र दर्शन करना है, अत वह सर्व को केवल देखती है। वेसे ही ज्ञान भी स्वय ज्ञायक होने से कर्म से अत्यन्त विभक्त (पृथक) होने के कारण निश्चय से कर्म को करने और वेदने मे असमर्थ होने से, न कर्म करता है और न वेदता है, किन्तु केवल ज्ञान मात्र स्वभाव से बन्ध को या मोक्ष को जानता है। निर्जरा को भी जानता है। और जो आत्मा को कर्त्ता रूप से अज्ञान के कारण जानता है, उसके सामान्य जनवत् न निर्जरा है न मोक्ष, केवल बन्ध ही है।

अण्णाणी मूढप्पा परदव्व अप्पय तु मन्नेति।
णाणी जहट्ठबोही आयसहाव निय भणइ ॥८॥

व्याख्या—अज्ञानी विमूढ आत्मा परद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसा देखते मानते है। ज्ञानिजन तो-जो निश्चय से यथार्थ प्रतिबुद्ध है, वे अणुमात्र परद्रव्य को भी 'यह मेरा नहीं है' ऐसा देखते है। जैसे इस लोक में कोई व्यवहार मूढ व्यक्ति-जो अन्य ग्राम मे रहने वाला है, वह पराये ग्राम को 'यह ग्राम मेरा है इस रुप से देखता हुआ मिथ्यादृष्टि और झूँठा-असत्यभाषी है। वैसे ही अशुद्ध आत्मा व्यवहार मूढ होकर परद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसे देखे तो वह भी परद्रव्य को अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही है। अत तत्वज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण परद्रव्य को 'यह मेरा नहीं' यह जानकर परद्रव्य कर्तृत्व के व्यवसाय से मुक्त है, अत वह सम्यग् दर्शन वाला है।

एकस्य वस्तुनो नान्य कर्त्ता भवति कर्हिचित्।
परानुगत चैतन्यो विभाव प्रकरोत्ययम् ॥३॥

अर्थः—किसी एक की वस्तु का कर्त्ता अन्य कभी नहीं होता, किन्तु यह चैतन्य परानुगत बना हुआ है, इससे विभाव का कर्त्ता बना हुआ है। वास्तव मे ही नहीं; किन्तु परानुगत होने से स्वय को कर्त्ता मान रहा है।

अतः मिथ्यादृष्टि की चेतना वीर्यादि की स्वक्षयोपशमीभूत होने से वह परभावादि मे स्वामित्व भोक्तृत्व आदि करता हुआ, शुभाशुभ विभाव से इष्टता अनिष्टता करता हुआ रागद्वेष रूप से चेतना को परिणत करता हुआ रागद्वेष रूप भाव कर्म का कर्त्ता होता है। भाव कर्म को प्राप्त हुआ स्वक्षेत्रगत पुद्‌गलो को आत्म-प्रदेशो के साथ लोलीभूत (एकरूप) करता है। इस से कर्म का कर्त्ता हो गया। वही आत्मा सम्यक्त्वी होने पर स्वचेतना वीर्यादि को स्वगुणादि मे नियुक्त करता हुआ पर का अग्राहक होने से अभिनव कर्मों का अग्राहक होता है। इस प्रकार वर्द्धमान (बढ़ते हुये) अग्राहक भाव वाला आत्मा सर्व सवक्षयोपशमज गुण परिणाम को स्वरूपानुग करता है; तब सर्वथा सवरी होता है। ऐसा जानकर परभाव से स्वशक्ति का रोधन नहीं होने देता और आत्मा शुद्ध बनता जाता है। यह सिद्धान्त है।

जैसे शिल्पी-स्वर्णकार आदि कुण्डलादि परद्रव्य परिणामात्मक कर्म हथोडे आदि से करता है, वह परद्रव्यपरिणामात्मक साधनों से करता है। ग्राम्य जनादि परद्रव्य परिणामात्मक कुण्डलादि का लाभ और फल एकद्रव्य से भोगता है नकि अनेक द्रव्यत्व से। स्वर्णकार अन्यत्व होने पर भी बनाने मे तन्मय होता है, फिर निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र से ही उसमे कर्त्ता कर्म और भोक्तृत्व व्यवहार है। उसी प्रकार आत्मा भी पुद्‌गलद्रव्य परिणामात्मक मन वचन काया रूप साधनों से पुद्‌गल परिणामात्मक पुण्य-पापादि कर्म करता है। पुद्‌गल द्रव्यपरिणामात्मक योग—साधन ग्रहण करता है। पुण्यपापादि कर्मफल जो सुख दुःखादि पुद्‌गल द्रव्य परिणामात्मक है, उन्हें भोगता है। अनेक द्रव्यत्व होने पर एकत्व तन्मय होता है। अतः निमित्त मात्र से ही उसमे कर्त्ता कर्म का भोक्ता भोग्य का व्यवहार है। और जैसे वह शिल्पी करने की

इच्छा से चेष्टा करता हुआ कुण्डल बना लेता है और पारिश्रमिक फल भोगता है । वैसे ही आत्मा भी करने का इच्छुक बना हुआ चेष्टा रूप कर्म को आत्म-परिणामात्मक करता है और उसका फल भी एक द्रव्यत्व से भोगता है, अन्यत्व होने पर तन्मय नही हो सकता । अत परिणामीभाव से उसके कर्तृत्व भोक्तृत्व हो गया है फिर भी वह उसका धर्म नही, यह आशय है । जो वस्तु अन्य है, वह अन्य वस्तु स्वयं से अतिरिक्त वस्तु को नही कर सकता, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वैसा दिखता है, परन्तु निश्चय से वैसा कुछ है नहीं । इसको समझने के लिए निम्नाङ्कित दृष्टान्त को लीजिये —

जैसे खडिया श्वेतगुण युक्त है, वह भित्ति (दीवार) आदि पर लगाई जाती है, दीवार को लोग श्वेतभित्ति कहते है, तथापि भित्ति भित्ति है, खडिया खडिया ही । इसी प्रकार पुद्गलादि के संसर्ग से जीव सकर्मकत्त्व को प्राप्त होने पर भी जीव जीव ही है और कर्मस्कन्ध पुद्गल । कोई भी द्रव्य द्रव्यान्तरत्व को प्राप्त नही होता । अर्थात् अन्यद्रव्यरूप नही बनता । आत्मा के दर्शनादि गुणो का घात आत्मा के परकर्तृत्व भाव मे होता है । अतएव परकर्तृत्व भाव को ही निवारण कर देना चाहिये और वह परकतृत्व का भाव परभोक्तृत्व भाव के जले जाने पर ही जाता है ।

णाणस्स दसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
ण तरा पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ जिणुद्दिट्ठो ॥९॥
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो हु विसयेसु ॥१०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव अणण्ण परिणामा ॥
एएण कारणेण सद्दाइसु णत्थि रागाइ (रागादि) ॥११॥

व्याख्या —त्रिकला (रत्नत्रयी) जहाँ होती है, वहीं वहीं उसके घ्यान से नष्ट होती है । जैसे—दीपक का घात होने पर प्रकाश भी नष्ट हो

जाता है । जिसमे जिससे जो होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता है । जो जिसमे जिससे नहीं होता; वह उसके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता । जैसे-प्रदीप के नष्ट होने पर घट नही नष्ट होता और घट के नष्ट होने पर प्रदीप नष्ट नहीं होता । क्योंकि दोनों अन्य अन्य है । एक दूसरे के गुण नही । ठीक इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान दर्शन चारित्रादि धर्म पुद्गलद्रव्य के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नही होते, न दर्शनज्ञानादि का घात होने पर पुद्गलद्रव्य नष्ट होता है, एव दर्शन ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य मे नहीं होते । यह सिद्ध हुआ; अन्यथा पुद्गल के नष्ट होने पर ज्ञान दर्शन का और ज्ञान-दर्शन का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात दुर्निवार होता । क्योंकि इस प्रकार जो जितने कुछ गुण जीव के हैं, वे सभी परद्रव्यो मे नहीं है । प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है, तो सम्यग् दृष्टि के विषयादि मे राग कैसे होता है ? जब कि राग द्वेष, जीव का स्वरूप नहीं है ! तब रागद्वेष के भाव कहाँ से उत्पन्न होते है ?

इसका उत्तर देते हैः—ज्ञान-दर्शनादि गुण जीव से अविभक्त है, इसके आवरण के क्षयोपशम से विशेष सामान्य उपयोग की जो प्रवृत्ति होती है, वह कषायोदय से कलुषित की गई होती है, परभाव भोक्तृत्व द्वारा शुभाशुभ परभाव विभाग से प्रवृत्त होती हुई, इष्टानिष्ट रूप से जानी जाती हुई, रागद्वेष परिणतिरूप होती है । अत रागादि पुद्गलगुणों का भी, जीव के मूल स्वभाव से भिन्नत्व है वे जीव के स्वभाव से मूल गुण नहीं; अपितु पुद्गल के ही स्वाभाविक गुण हैं जो जीव गुण रूप चेतना है, वही पर सयोग से तथारूप परिणत होती हुई रागादि-रूप हो गई है, इसी लिये इन्हें रागादि को अनन्य परिणाम कहा गया है । क्योंकि ये जीव से अन्य-धर्मास्ति आदि ५ द्रव्यों मे नहीं मिलते । जीव मे ही प्राप्त होते हैं । कहा हैः—

रागद्वेषाविह हि भवत ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वे प्रतिनियतदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।

सम्यग्दृष्टि क्षपयति तत स्तत्व दृष्टया स्फुट तो,
ज्ञानज्योति र्ज्वलति सहज येन पूर्णाचलार्च्चि ॥१॥

अर्थ —इस जगत मे रागद्वेष, ज्ञान के अज्ञान भाव से होते है । अर्थात् मिथ्यात्ववश जब ज्ञान अज्ञानरूप बनता है, तब आत्मा रागद्वेषरूप दोष करता है । वे वास्तव मे निश्चयदृष्टि से देखने पर कुछ नही है । अर्थात् आत्मा के स्वयं के नही । अत सम्यग्दृष्टि उन्हे तत्त्वदृष्टि से स्पष्ट क्षय करता है, जिससे पूर्ण और अचल किरणो युक्त सहज ज्ञानज्योति प्रज्वलित हो जाती है ।

रागद्वेषोत्पादक तत्त्वदृष्ट्या, नान्यद् भव्य वीक्षते किचनाऽपि ।
जीवद्रव्योत्पन्नचैतन्यव्यक्ति रन्यद् द्रव्यासक्तितो जायते तौ ॥२॥

अर्थ —तत्वदृष्टि से देखने वाला तो इन रागद्वेष के भावो का उत्पादक स्वयं की ही अन्य-जड मे आसक्त वृत्ति को ही मानता है और उसे आत्मा का अहित करने वाला समझता है । अज्ञानवश जीव के चैतन्य की व्यक्ति राग द्वेष रूप से होती रहती है । अज्ञान-(जीव व-जड को एकरुप मानने की मिथ्या धारणा) जब दूर हो जाता है तो रागद्वेष स्पष्ट पृथक भासने लगते है ।

यहाँ शका होती है कि यदि एक क्षेत्रगत पुद्गल आत्म-गुणो का आवरण करने वाले नही है, तो वे कर्मरूप से ग्रहण किये गये आवारक (ढँकने वाले) कैसे बन जाते है ?

इसका उत्तर देते है —कि जीव और पुद्गलो की पर-परगामिकता की परिर्णति निमित्त योग से है, इससे जीव, पुद्गलभोगासक्ति के निमित्त से रागद्वेष परिणति उत्पन्न करता है । निमित्त का सवथा त्याग कर देने पर राग द्वेष परिणति नही होती । रागद्वेष द्वारा गृहीत कर्मवर्गणा स्कन्धो मे ही आवारकता होती है । तब शका होती है कि क्षीण मोहादि मे परभोगित्व होने पर भी राग द्वेष का अभाव कैसे हो जाता है ? उत्तर यो है —उनके चारित्रगुण के सम्पूर्ण प्राग्भाव से पररमणता के स्थान पर स्वरमणता भाव

से भोगित्व है ? नकि परभोगित्व ? तव सयोगि केवली अघाति का उदय कैसे रहता है ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है । इसका भी उत्तर देते हैं·— अघाति का उदय अव्याबाधादि गुणों को आवृत करने रूप है नकि परभावानुभवनरूप । यह जानना चाहिये । और जैसे व्राहमी आदि औषधियाँ भक्षण करने पर क्षायोपशमिकी वुद्धि की वृद्धि होती है और वृताक (वैंगन) तरवूज दधि आदि खाने पर वुद्धि का ध्वस होता है । अत. वैसे ही जीव और पुद्गल निमित्त रागादि योग से अन्य परिणति रूप परिणमते हैं । अत. आत्म-सुखाभिलाषीजन परभावभोगित्व का परित्याग करदें ।

अन्न दविएण अन्न दवियस्स णो कीरइ गुणुप्पाओ ।
वत्थु सहावे सव्वे नियसहावे परिणमति ॥१२॥

व्याख्याः—किसी भी अन्यद्रव्य के द्वारा अपने से अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पादन नहीं किया जाता । यह सर्व द्रव्यों का वास्तविक स्वभाव है । सभी द्रव्य स्व स्वभाव मे ही परिणमते हैं । इस कारण परद्रव्य जीव के रागादि उत्पन्न नहीं करते । क्योंकि सभी द्रव्यों के गुणों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है । अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पादन कभी नहीं होता ।

अणण निमित्ता परिणमइ दव्वदुगं तज्जणय सबंधा ।
आवरणपय पुग्गल विभाव भाव च उवओगो ॥१३॥

सर्व-षट् द्रव्यों मे दो द्रव्य-जीव और पुद्गल अन्य परिणाम रूप परिणमते है और वह परिणमन अन्य निमित्त से होता है । जीव का उपयोग गुण पुद्गल निमित्त से रागद्वेष विभावतया परिणत होता है और पुद्गल जीव द्वारा गृहीत हुये जीव गुण-रोधक भाव को प्राप्त होते हैं यह सम्बन्ध तादात्म्य नहीं होता, किन्तु निमित्त नैमित्तिक योग से उत्पन्न होने के कारण इनका उत्पत्ति सम्बन्ध है । उत्पत्ति की आदि कहाँ से है ? से समयप्राभृत मे इस प्रकार कहा हैः—

"नव नव निमित्त योगा राग दोसा नवनवा हुंति ।
तेण साइसता सतइ पड़ुच्चणाइया ॥"

अर्थ —पुत्र कलत्र धन भोगादि का नया नया संयोग तथा वियोग होने पर नये नये रागद्वेष उत्पन्न होते है । क्योंकि अनादि काल से वे ही सदा सन्तति के पीछे–अर्थात् एक के पश्चात सदा एक ही मिलते है । यहाँ पर जो एकान्त से रागादि परभावो को निमित्तोद्भव कहते है, वह असत्य है । क्योंकि सिद्धो के भी जो आकाश प्रदेशों में स्थित है, उनके आकाशप्रदेश स्थित वर्गणाओं के बँधने का प्रसङ्ग हो जायगा और अतिव्याप्ति दोष की प्राप्ति हो जाती है सो अलग । और वे कई व्यक्ति जो एकाँत से पुद्गलनिमित्त के बिना रागादि को आत्मोद्भव कहते है, वह भी असत्य है क्योंकि रागद्वेष जीव के स्वभाव में नहीं मिलते है । अत पुद्गल संग के निमित्त से जीव के ज्ञान–दर्शन उपयोग रागद्वेषतया परिणत होते हैं । पुद्गल संग का अभाव हो जाने पर तो आत्मा वीतरागत्व को पा जाता है । उसे इस दृष्टान्त से स्पष्ट करते है —

जैसे मृतिका जल के योग से द्रवत्व को और अग्नि के योग से भस्मत्व को प्राप्त हो जाती है । वही मिट्टी कुम्भकार का योग पाकर चक्र दण्ड चीवर के निमित्त से घट के आकार मे परिणत हुई अग्नि से पककर चिरकाल तक जलाधारत्व (जल धारण करना) करती है । उसी प्रकार पुद्गलस्कन्ध भी जीव के प्रयोग से कर्मतया परिणत हुये ज्ञानादि गुणो के आवरणत्व रूप से परिणमते है । यहाँ यह परिणाम 'जीव और पुद्गल' उभयजन्य है । जैसे परमाणु वर्णादि गुणचतुष्क स्वरूप है । (एक परमाणु मे एक गन्ध एक रस और दो स्पर्श होते है ।) परमाणु मे शब्दादि धम नही है, तथापि बहु परमाणु मिलकर स्कन्धरूप बनते है, तब शब्दादितया परिणत हो जाते है । परमाणुओं मे शब्दत्व तादात्म्य धर्म से नही है । किन्तु वह उत्पत्तिरूप धर्म है । इत्यादि स्वत तक करके समझने योग्य है ।

वण्णाइ सुह असुहा न राग दोसस्स कारगा हुंति ।
तस्स निमित्ते आया कत्ता होऊण परिणमइ ॥१४॥

व्याख्याः—शुभ या अशुभ वर्णादि पुद्गल रागद्वेषादि के कारक नहीं होते, उस पुद्गल के निमित्त से आत्मा कर्त्ता वनता हुआ, चेतना को इष्टानिष्ट रूप से व्याप्त करता हुआ अर्थात् चेतना को व्यवहित करता हुआ रागादि का कर्त्ता होता है । अतः वे शुभाशुभ पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न होने वाले हैं । इसलिये निमित्त का परित्याग होने पर कर्तृत्व भी नहीं रहता । एतदर्थ परभाव का ग्रहण व भोग दोनों का त्याग ही श्रेय है । और उस परभाव का त्याग सम्यग्ज्ञान पूर्वक पश्चात्तापादि प्रतिक्रमण से होता है ।

कम्म ज पुव्वकय सुहासुह तो निवत्तए अप्पा ।
जो विणिवित्त चेयणो सो पडिक्कमइ सव्व दोसाओ ॥१५॥
कम्म ज सुहमसुहं जम्मि भावम्मि बज्झइ भविस्स ।
ततो अकारगत्ते पच्चक्खाणी हवइ आया ॥१६॥
जं सुहमसुहमुदिन्न सतमकज्ज तु निंदणाजुत्तो ।
जाणइ निवित्तमाणो सो आलोयणगओ जीवो ॥१७॥
निच्चं पडिक्कमंतो पच्चक्खतो तहावलोयतो ।
विगलि अ कम्मपवाहो निम्मल चरणो हवइ चेआ ॥१८॥

व्याख्याः—पूर्वकृत कर्म के शुभाशुभ विपाक से जो कर्मरूप है, उससे जो आत्मा निवृत्त होता है, वह प्रतिक्रमण करने वाला होता है । पूर्वकृत कर्म भोग स्वामित्व से धीरता से विनिवृत्त हुआ आत्मा सर्व दोषों से हट जाता है । भविष्य मे शुभाशुभ कर्म परित्याग परिणामवान् उस कर्म के अकर्तृत्व रुप परिणत हुआ प्रत्याख्यानी होता है । अर्थात् जिन भावों मे कर्म बँधते हैं उन भावों से हटकर भविष्य के लिये उनका कर देता है । जो शुभाशुभ कर्म उदयगत तथा सत्तागत हैं

विकल्पों का प्रतिक्रमण करके अर्थात् उनसे हटकर । फिर वर्तमान काल की अशुद्धता को देखता हुआ, न करता हूँ, न कराता हूँ न करते हुये का अनुमोदन करता हूँ । मन से, वचन से और काया से, इस प्रकार त्रिविध त्रिविध रूप प्रथम भग से, पुन एकोनपचाशत् भग प्रकार से सदोष का निषेध करता हुआ, आलोचना रूप प्रायश्चित करता हुआ वर्तमान स्वशक्ति के विशोधन से निर्मल स्वात्म-स्वभाव वाला विशुद्ध आत्मा स्व आत्मा में रमण करने वाला बनता है । फिर आगामिकाल की विशुद्धि के लिये— 'न करूँगा, न कराऊँगा और न करने का अनुमोदन करूँगा, मन वचन और काया से' । इस प्रकार भाविकाल मे परभाव करने का प्रत्याख्यान किया हुआ समस्त कर्म सम्मोह को हटा देने वाला आत्मा स्व समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध आत्मा मे स्वकार्य भाव मे सदा आत्मा से वर्तता है । इस प्रकार त्रैकालिक परभाव स्पर्श को दूर करके निर्विकार अपने सहज चैतन्यभाव का ही अवलम्बन करता है । और पर की अशुद्धता का विभाग करके सासर्गिक अशुद्धता को छोडने वाला होता है । उसके लिये कर्मफल सन्यास भावना करता है—'कर्मविषवृक्ष के फल नष्ट हो जायँ ।' मैं उनका कर्त्ता नही हूँ' न भोक्ता हूँ, मैं स्वरूप का कर्त्ता भोक्ता हूँ ।' अत मैंने यह नही किये, मै इनके ससर्ग भाव का धारक नही हूँ । न मै इस पुद्‌गल रूपमति श्रुत अवधि मनपर्याय केवलज्ञानावरणीय फल को भोगता हूँ । पुद्‌गलस्कन्ध मेरा स्वरूप नहीं, मै तो स्व के अस्ति स्वभाव का, व अपने ज्ञानगुण का जो स्व पर का परिच्छेदक ज्ञायक है' भोक्ता हूँ ।

मै चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनावरणीय कर्म को नही भोगता । समस्त स्वद्रव्य और परद्रव्यों के सामान्य अवबोधक दर्शन गुण का भोक्ता हूँ । न मै सामान्य-विशेष उपयोग रोधक निद्रा पचक के फल को भोगता हूँ क्यों कि वह मेरा अभोग्य है । यहाँ कोई प्रश्न करे कि

निर्मोह हूं। निर्मलात्म शक्ति रूप धर्म का भोक्ता हूं।

न मैं नरक, तिर्यग् मनुष्य देवायु रूप कर्मफल को भोगता हूँ। मै तो अविनाशी, अक्षय अवगाह अमरत्व धर्मो का भोक्ता हूँ।

न मैं नरक तिर्यग् मनुष्य देव गति रूप कर्मफल भोगता हूँ, मैं तो शुद्ध अचल एक स्वात्म स्वरूप का भोक्ता हूँ।

न मै एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय जाति रूप कर्मफल को भोगता हूँ ये भवभ्रमणावस्था के हेतु है, मैं तो स्वरूपगत स्वसत्तावस्थान रूप हूँ।

न मै औदारिक वैक्रियक आहारक तैजस कार्मण, इन पॉच शरीरो का और औदारिक वैक्रियक आहारक अगोपांगो का फल भोगता हूँ। मै तो शरीर से असग अनाहारक स्वाधार गुणों का भोक्ता हूं।

न मै बन्धनपचक सघातनपचक कर्मफल को भोगता हूँ, इनका कार्य तो आहारादि पर्याप्ति-गृहीत पुद्गलो का आकर्षण, और उन्हें शरीरादि रुप में बाँधना है। वह मेरा कार्य नहीं। मै तो प्रागभावीभूत स्वज्ञानादि गुणो का ही प्रवर्तक हूं।

न मै छह सस्थान, और छह सहनन रूप कर्मफल भोगता हूं। क्योकि ये पुद्गलरूप शरीर के कर्मविपाक की शुभाशुभता के हेतु है। मै तो पर-पुद्गल की शुभाशुभता से विप्रमुक्त अनन्त चिदानन्द अशरीरभाव का भोक्ता हूं।

न मै पॉच वर्ण दो गन्ध पॉच रस और आठ स्पर्श रूप कर्मफल को भोगता हूं क्योकि ये तो पुद्गलो के गुण है शरीराश्रित है। मेरे अमूर्त गुण के रोधक है। मै तो अवर्ण अगन्ध अरस अस्पर्श अमूर्त स्वभाव हू।

न मै नरक तिर्यक् मनुष्य देवानुपूर्वी रूप कर्मफल को भोगता हूं, और न शुभाशुभ विहायोगति रूप कर्मफल को भोगता हूँ। मै तो अकम्प, अक्रिय अचल स्वरुप का भोक्ता हूं।

१ आगे भी प्रकृतियो का वर्णन नही है। होना चाहिये।

विमुक्त पर द्रव्यस्य शुद्धभावान्वितस्य च ।

कथमाहारकत्व स्याद्देहभिन्नस्य चात्मनः ॥५॥

अर्थ.—समस्त परद्रव्यों से विमुक्त और शुद्धभाव सहित देहभिन्न आत्मा का आहारकत्व कैसे हो सकता है ?

जस्साऽमुत्तो आया न हु आहारगो हवइ कहवि ।

आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओ अ ॥२३॥

व्याख्या—जिसको 'आत्मा अमूर्त है' ऐसा निश्चय है, वह आहारक किसी भी प्रकार नहीं होता है । आहार निश्चित रूप से मूर्त्त और पुद्गलमय है । वह न आत्मा है, न आत्मा का कार्य रूप है, और क्योंकि शुद्ध आत्मा परद्रव्य को किञ्चिन्मात्र भी न ग्रहण करता है, न छोडता है । वह पुद्गल, प्रायोगिक गुण सामर्थ्य से अथवा विस्रसिकगुण सामर्थ्य वाला है आत्मा तो ज्ञायक ही है । उसके द्वारा ग्रहण और छोड़ना अशक्य है । और ज्ञान तथा अमूर्त्त आत्मद्रव्य के मूर्त्त पुद्गल स्कन्धरूप आहारकत्व का सम्भव नहीं है । अतः ज्ञानमय आत्मा के आहारकत्व नहीं होता, न शरीरादित्व होता है । अत. मै शरीर और पुद्गलाहारी दोनों ही नहीं हूँ । इस प्रकार ज्ञानादि शुद्ध आत्मा के देह ही नहीं होता है । अतः देहादि की पवित्रता मोक्ष का कारण नहीं है । यही बात निम्न पद्य मे है—

एव ज्ञानादिशुद्धस्य देह एव न विद्यते ।

अतो देहादि पावित्र्य नैव मोक्षस्य कारणम् ॥६॥

मोक्खपदे अप्पाण ठवेह त चेव झायहु निच्च ।

तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥२४॥

व्याख्या.—अनादि काल से परद्रव्य मे राग द्वेषादि नित्य ही स्व-प्रज्ञा

दोष से रहते है । उन्हे स्वप्रज्ञा गुण से ही परद्रव्य से उसे दूर हटाकर दर्शन-ज्ञान-ज्ञान-चारित्र में सदैव निश्चय रूप से आत्मा को स्थापित करो । तथा अन्य समस्त चिन्ताओं का निरोध करके एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रुप मोक्षपद का ही ध्यान करो । तथा सकल कर्मफल चेतना सन्यास से शुद्धज्ञान चेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मोक्षपद को ही जाग्रत करो । और आत्म द्रव्य स्वभाववश से प्रतिक्षण ज्ञान दर्शन चारित्र मे ही विचरो । तथा एक ज्ञान का अचल अवलम्बन लेता हुआ, ज्ञेयरुप से उपाधितया सर्व ओर दोडते हुये सभी परद्रव्यों में भी मत विहार करो ।

अब द्रव्यलिङ्ग-रजोहरण मुखवस्त्रिका विषयक विचार करते हैं, । द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का उपादान कारण नहीं, निमित्त कारण भी नही, किन्तु अपेक्षा कारणरूपत्व से सापेक्ष है । और जो रजोहरणादि लिग का अपलाय करते है नहीं होते ऐसा कहते है, वे भी नग्नत्वादि लिग कहते ही है, अत अपेक्षा कारण लिग जानना चाहिये । कितने जीव भरत, मरुदेवी आदि लिग के बिना भी स्वात्म साधक हो गये हैं । इस विषय मे कहते है —

ववहारिओ पुण णओ दो वि लिगाणि भणइ मुक्खपहो ।
निच्छय णओ ण इच्छइ मुक्खपहे सव्व लिगाणि ॥२५॥

व्याख्या —पुन व्यावहारिक नय वाले, श्रमण श्रमणोपासक भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिङ्ग को मोक्ष मार्ग कहते है । और निश्चयनय तो मोक्षपद में सभी लिङ्गो को नहीं चाहता । वह तो विकल्पातिक्रान्त दृप्टि ज्ञप्ति प्रवृत्ति मात्र एक शुद्ध ज्ञान ही मुक्तिपथ है' ऐसा मानता है । 'उसी ज्ञान का स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवात्मकत्व् होने से वही परमार्थ है । वही परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से चेताता है-सचेत करता है । वही सर्वागम-सारभूत शुद्धात्म स्वरुप को जागृत करता है । सभी विकल्प

जाने दो क्यों कि

सृत सर्वैर्विकल्पै र्यत्कार्याकार्य साधनम् ।
नाऽशुद्धेन निमित्तेन शुद्ध कार्यस्य साधनम् ॥२६॥

कारण से कार्य साधन करने वाले के अशुद्ध निमित्त से शुद्ध कार्य साधना नही होती । शुद्ध निमित्त से होती है । वास्तव मे जो परमात्मसारभूत भगवान् परमात्मा के विश्वप्रकाशत्व से समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से स्वय शब्द ब्रह्मायमाण इस शास्त्र को पढ़कर विश्वप्रकाशनसमर्थ, परमार्थभूत, चित्प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ, अर्थ और तत्त्व दोनो से उसको पृथक रूप से जानकर उसी के अर्थभूत भगवान् मे 'जो एक मात्र पूर्ण विज्ञानमय परम ब्रह्म हैं', सर्वप्रकार से स्थित होगा, वह तत्क्षण साक्षात् विजृम्भमाण चिद्एकरसनिर्भरस्वभाव मे सुस्थित, निराकुल आत्मरूपतया परमानन्द शब्द वाच्य, उत्तम उद्यतन अनाकुलत्व लक्षण सुख को स्वय ही प्राप्त करेगा ।

सर्व सिद्धान्तसार च शुद्धात्मतत्वालम्बनम् ।
अखण्ड निर्मलं रूप साध्यसिद्धेश्च कारणम् ॥८॥

अर्थः—सर्व सिद्धान्तों का सार यह है कि अखण्ढ निर्मल रूप वाले शुद्ध आत्मत्व का आलम्बन साध्य सिद्धि का कारण है ।

इस प्रकार शुद्ध आत्मत्त्व का आलम्बन ही मोक्ष मार्ग है । इस कथनरूप यह मोक्ष मार्ग कहा गया ।

॥ इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि रचितेऽध्यात्मप्रबोधेऽपरनामदेशनासारे मोक्षप्रकाशको नाम नवमोऽधिकारः ॥

॥ स्याद्वाद-ज्ञान निरूपण नाम दशम अधिकार ॥

अब शुद्ध आत्मा का आलम्बन स्याद्वाद ज्ञान से ही होता है, अत वही कहा जाता है —

अर्हत् सर्वज्ञ भगवान् के शासन का 'स्यादवाद', समस्त वस्तु तत्व का अस्खलित एकमात्र साधक है । और वह 'सर्ववस्तु अनेकान्तात्मक हैं ऐसा कहता है । क्योकि सभी वस्तुओं का अनेकान्त स्वभाव है यहाँ तो आत्मद्रव्य-वस्तु में ज्ञानमात्रतया अनुशासित किये जाने पर अन्य पर परिकोप नहीं, क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का स्वयमेव अनेकान्तत्व है । उसमें स्याद्वाद में जो है वह 'वह नहीं' भी है । जो एक है, वही अनेक है । जो अनित्य है, वही नित्य भी है । जो भिन्न है, वही अभिन्न भी है । जो होना है वह न होना भी है । जो वक्तव्य है, वही अवक्तव्य भी है । इस प्रकार वस्तु के वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन अनेकान्त है । वह स्व आत्मा का ज्ञानमात्र है । तथा शास्त्र मे कहा जाता रहा है । अत चमकते हुये ज्ञान स्वरूप से तत्व से बाहिर अनन्त ज्ञेयतापन्न स्वरूप से अतिरिक्त पर रूप से अतत्व होने से सह क्रम रूप प्रवृत्त अनन्त चिदंश समुदयरूप अविभाग द्रव्य से एकत्व होने से अविभाग एक द्रव्य व्याप्त सह क्रम प्रवृत्त अनंत चिदंश रूप पर्यायो से अनेकत्व है । क्योंकि स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव में होने की शक्ति का स्वभावयत्व में सत्व है, और पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप होने की शक्ति का स्वभात्व में असत्व है । अनादिनिधन अविभागैकवृत्तिमान् रूप से नित्यत्व होने से, क्रमप्रवृत, एकसमयावछिन्न, अनेकसामर्थ्यवृत्ति अंशपरिणमनत्व रूप से अनित्यत्व होने से, समस्तपर्यायों में अवस्थान रूप से अभिन्नत्व होने से उन्हें पर्यायों से कार्य-कारण के भेदरूप से भिन्नत्व

होने से प्रतिसमय कार्यकारणान्तरत्व से परिणममान स्वभाव होने रूप कारण से उसी परिणममान आत्मा को भी उसी मे अवस्थान होने से अपरिच्युतवृत्ति के रूप न हो जाने के हेतु से, शब्द गोचरत्व धर्मत्व द्वारा कहने योग्य होने से, शब्द द्वारा अगम्य, और केवल ज्ञानगम्य स्वभावत्व के कारण न कहने योग्य होने के कारण, वह आत्मतत्त्व एक अनेकादि अनन्त धर्मपरिणामरूप ही प्रवर्त्तता है । यहाँ कोई शका करें कि यदि वस्तु स्वय ही अनेकान्त स्वभाव से परिणमती है तो अर्हत् भगवान् उसका साधनत्व रूप से अनुशासन क्यों करते है ? अर्थात् क्यों कहते हैं ? उसका उत्तर इस प्रकार है.—यद्यपि वस्तु अनेकान्ततया परिणमती है; तदपि अज्ञानिजनों द्वारा नही जानी जा सकती; उन्हें जतलाने को ऐसा कहते हैं । वास्तव मे अनेकान्त उपदेश के विना सत्ज्ञान की सिद्धि नहीं होती । पुन. शका होती है कि अनेकान्तमय आत्मा को 'वह ज्ञानमात्र है' ऐसा व्यपदेश क्यों किया गया ? उत्तर–लक्षण प्रसिद्धि से लक्ष्य प्रसिद्धि के लिये ज्ञानमात्रतया व्यपदेश है । क्योंकि आत्मा का असाधारण गुण होने से ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है । अत· ज्ञान लक्षण की प्रसिद्धि से आत्मरूप लक्ष्य की प्रसिद्धि है ।

शका—अमूर्त्तज्ञान की प्रकर्ष से सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर—ज्ञान स्वसवेदनत्व से सिद्ध है, तथा अह प्रत्ययगम्य होने से प्रकर्षरूप से सिद्ध है; क्योंकि वह ज्ञान आत्मद्रव्य से अभिन्न है । अत. ज्ञानमात्र मे अचलित रखी गई दृष्टि से क्रम अक्रम रूप से प्रवृत्त उस आत्मा के अविनाभूत अनन्त धर्म हो गये । जो कर्म जितना लक्ष्य है, वह उतना समस्त ही वास्तव मे—निश्चय से आत्मा है । इसलिये यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रतया व्यपदेश किया है ।

शंका—भगवान् ने अनन्त धर्ममय आत्मा का ज्ञानमात्रत्व कैसे कहा

उत्तर—परस्पर व्यतिरिक्त अनन्त धर्म समुदाय परिणामों के पयार्यमात्र भाव रूप स्वय होने से भगवान् ने ज्ञानमात्रत्व कहा है। अतएव इस आत्मा के ज्ञानदर्शनमात्र भाव में अन्त पातिनी रहने वाली अनन्त शक्तियाँ प्रवृत्त होती है—प्रवर्त्तती है। और यहाँ 'ज्ञान दर्शन गुणमय ही आत्मा है' इस व्याख्या में स्थिरतादि अनन्त भाव उस आत्मा की शक्ति रूप से ही विशेष प्रकार कहे गये है। वे शक्तियाँ अनन्त होने पर भी उनमे से कुछ, अन्य ग्रन्थों से प्राप्त हुई लिखी जाती है—

१—सामान्य विशेष स्वभाव गुणपर्यायपिण्डत्व की आधारस्वरुप द्रव्यत्व शक्ति।

२—प्रति पर्याय में उत्पाद व्यय रूप में परिणमन होने से अनेक अवस्था होने पर भी उसी द्रव्यत्व अवस्थानरूप ऊर्द्ध प्रचय शक्ति।

३—स्वजातिभिन्न द्रव्य में भी तज्जातीयत्व स्थापन करने वाली, समयान्तर में अनेक पर्याय होने पर भी उसी द्रव्य को स्थापनपरक तिर्यग् प्रचय शक्ति।

४—अजड होने से एक मात्र चेतनता शक्ति।

५—साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्ति।

६—अनाकार समाधि लक्षण सुख शक्ति।

८—स्व स्व कार्य निवर्त्तन सामर्थ्यरूप वीर्य शक्ति।

९—अखण्डित प्रताप, स्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्व शक्ति।

१०—सर्व स्वभाव व्यापक एकरूप विभुत्व शक्ति।

११—विश्व का समस्त सामान्य भावावबोध परिणाम वाली सर्वदर्शित्व शक्ति।

१२—लोकालोक के विशेष भावावबोधिकात्मका ज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति।

१३—ज्ञानरूप आत्मप्रदेश प्रकाशमान लोकाकार मात्र एक उपयोग लक्षण स्वच्छत्व शक्ति ।

१४—स्वय प्रकाशमान विशद स्व-सवेदनमयी प्रकाश शक्ति ।

१५—अन्य द्वारा अक्रियमाण सर्वज्ञेय को एकाकार परिणमन करने पर भी उसी प्रकार उपयोग प्रवर्त्तनरूप कार्य कारण शक्ति ।

१६—पर और आत्म निमित्तक ज्ञेय ज्ञान आकार ग्रहण ग्राहण स्वभाव रूप से परिणमन करने वाली पारिणामिकत्व शक्ति ।

१७—अन्यून अतिरिक्त स्वरूप रूपा नियतत्व शक्ति ।

१८—षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि परिणत-स्वरुपनिष्ठत्व को कारण विशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्व शक्ति ।

१९—आत्मद्रव्य की हेतुभूत चैतन्यमात्र भाव-धारण-लक्षणा जीवत्व शक्ति ।

२0—क्षेत्रकाल में अनवच्छिन्न चिद्-विलासात्मिका सकुचित विकासन शक्ति ।

(अपूर्ण प्रति में इतनी ही शक्तियाँ लिखी होने से २0 ही प्राप्त होती हैं । और भी हैं, क्योंकि चेतन की अनन्तशक्तियाँ हैं, ऐसा सर्वज्ञ देव का कथन है । ग्रन्थान्तरों से अन्य शक्तियाँ जानी जा सकती हैं ।)

परिशिष्ट (१)

श्रीमद् देवचन्द्र जी के नयचक्रसार में आत्मा की शक्तियों का विवरण इस प्रकार है —

भिन्न-भिन्न पर्यायप्रवर्त्तनस्वकार्यकरणसहकारभूता पर्यायानुगत परिणामविशेषस्वभावा ते च के, १-परिणामिकता, २-कर्त्तृता, ३-ज्ञायकता, ४-ग्राहकता, ५-भोक्तृता, ६-रक्षणता, ७-व्याप्या व्यापकता, ८-आधाराधेयता, ९-जन्य-जनकता, १०-अगुरुलघुता, ११-विभूतकारणता, १२-कारकता, १३-प्रभुता, १४-भावुकता, १५-अभावुकता, १६-स्वकार्यता, १७-सप्रदेशता, १८-गतिस्वभावता,, १९-स्थितिस्वभावता, २०-अवगाहक स्वभावता, २१-अखण्डता, २२-अचलता, २३-असंगता, २४-अक्रियता, २५- सक्रियता इत्यादि स्वीयोपकरणप्रवृत्तिनैमित्तिका"उक्तं च सम्मतौ" आरोपोपचारेण यद्यदपेक्षते तन्न वस्तुधर्म उपाधिताभवनात् न चोपाधिर्वस्तु सत्ता इति ॥

अर्थ—हवे विशेष स्वभाव कहे छे । भिन्न-भिन्न जे पर्याय छे तेनु कार्य कारण पणे जे अवर्त्तन तेना सहकारभूत जे पर्यायानुगत परिणामी एवा जे स्वभाव ते विशेष स्वभाव कहिये । तेनां अनेक भेद छे । ते हरिभद्रसूरिकृत शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ग्रंथ मां कह्या छे ते कहे छे ।

१-सर्व द्रव्यने पोताना गुण समय समय मां कार्य करवे प्रवर्ते ते भिन्न-भिन्न परिणामे परिणमे ते सर्व पोताना गुण तेने कारणिक छे ते परिणामिकपणो कहिये २-तत्र कर्तृत्वं जीवस्य नान्येषां तिहां आत्मा कर्त्ता छे एटले कर्त्तापणो जीव द्रव्य ने विषे छे । "अप्पा कत्ता विकत्ताय" इति उत्तराध्ययनवचनात् ३-ज्ञायकता जाणपणानी शक्ति जीव ने विषे छे । ज्ञान

लक्षण जीव छे । ते माटे गिन्हइ कायिएण इति आवश्यक निर्युक्ति वचनात् ४-ग्राहक शक्ति पण जीव ने छे । गृह्णातीति क्रिया नो कर्त्ता जीव छे । ५-भोक्ता शक्ति पण जीव मा छे । "जो कुणइ सो भुजइ य कर्त्ता स एव भोक्ता" इति वचनात् ।१-रक्षणता, २-व्यापकता, ३-आधाराधेयता, ४-जन्य-जनकता तत्वार्थवृत्ति मध्ये छे तथा अगुरुलघुता, विभुता, करणता, कार्यता, कारकता, ए शक्ति नो व्याख्या श्री विशेषावश्यके छे । भावुकता तथा अभावुकता शक्ति ते श्री हरिभद्र सूरि कृत भावुक नामे प्रकरण मध्ये कहि छे ।

एम केटलीक शक्ति जैन ना तर्क ग्रन्थों जे अनेकान्त-जयपताका सम्मति प्रमुख मा छे तथा उर्ध्वप्रचय शक्ति अने तिर्यक् प्रचयशक्ति, ओघशक्ति, समुचितशक्ति, ए सर्व सम्मति ग्रथ ने विषे छे । तथा जे द्विगुणी आत्मा माने ते सर्वधर्म शक्ति रूपज माने छे तेणे दानादिकलब्धि अव्यावाधसुख प्रमुख शक्ति मानी छे । इहा व्याख्यान्तरे जे गुणकरण छे तेने कर्त्तादिक पणो ते सामर्थ्य छे, जाणवो देखवो ते कार्य छे, केटलीक शक्ति जीवमाज छे अने केटलीक पचास्तिकाय मध्ये छे ।

(श्री जिनदत्तसुरिग्रन्थ माला से प्रकाशित जीव विचारादि प्रकरण संग्रह पृ. १२४-१२५ से उद्धृत)

परिशिष्ट (२)

अमृतचन्द्रसूरि कृत समयसारटीका के स्याद्वादाधिकार मे आत्मा के ज्ञान मात्र एक भाव के भीतर पडने वाली अनन्त शक्तियों मे से उदित होने वाली कुछ शक्तियो का वर्णन है जिनकी सूची इस प्रकार है —

१–जीवत्व नामा शक्ति, २–चिति शक्ति, ३–दृष्टि शक्ति, ४–ज्ञान शक्ति, ५–सुख शक्ति, ६–वीर्य शक्ति, ७–प्रभुत्व शक्ति, ८–विभुत्व शक्ति, ९–सर्वदर्शित्व शक्ति, १०–सर्वज्ञत्व, ११–स्वच्छत्व शक्ति १२–प्रकाश शक्ति, १३–विकासत्वशक्ति, १४– अकार्यकारण शक्ति, १५–परिणम्य–परिणामकत्व शक्ति, १६–त्यागोपदानशून्यत्वशक्ति, १७–अगुरु लघुत्व शक्ति, १८–उत्पाद–व्यय ध्रुवत्व शक्ति, १९–परिणामशक्ति, २०–अमूर्तत्वशक्ति, २१–अकर्तृत्वशक्ति, २२–अभोक्तृत्वशक्ति, २३–निष्क्रियत्व शक्ति, २४–नियत प्रदेशत्व शक्ति, २५–स्वधर्मशक्ति, २६–साधारण–असाधारण–साधारणासाधारण धर्मत्वशक्ति, २७–अनन्तधर्मत्व शक्ति, २८–विरुद्ध धर्मत्व शक्ति, २९–तत्वशक्ति, ३०–अतत्वशक्ति, ३१–एकत्वशक्ति, ३२–अनेकत्व शक्ति, ३३–भावशक्ति, ३४–अभाव शक्ति, ३५–भावाभाव शक्ति, ३६–भाव शक्ति, ४०–क्रियाशक्ति, ४१–कर्म शक्ति, ४२–कर्तृत्व शक्ति, ४३–करण शक्ति, ४४–सम्प्रदान शक्ति, ४५–अपादान शक्ति, ४६–अधिकरण शक्ति, ४७–सम्बन्ध शक्ति ।

इन शक्तियो का विशेष विवेचन श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला से प्रकाशित 'समयसार' के पृ ३३२ से ३३५ तक द्रष्टव्य है ।

अध्यात्म प्रबोध

प्रशस्ति.

सुविहितखरतरगच्छे संवेगिपरम्परायां श्रीमत्क्षमाकल्याण महामहोपाध्यायपट्टानुपट्टे श्रीमत्सुखसागरमहोदयानां आज्ञानुवर्त्तिनी स्वनामधन्या महापुण्यशालिनी स्व प्रवर्त्तिनीश्री पुण्यश्रीमहोदयाना प्रशिष्या एवं स्व. प्रवर्त्तिनीश्री ज्ञानश्री महानुभावाना शिष्या तथा स्व. जैनकोकिला व्याख्यानभारती आदि अनेक विरुदावलिसमन्विता श्री विचक्षणश्री महाराजस्य पट्टेसंस्थिता वर्त्तमान आचार्यदेव श्रीमज्जिन उदयसागरसूरीश्वराणामाज्ञानुवर्त्तिनी सज्जनश्रिया अनूदिता श्रीमद्देवचन्द्रगणिरचित 'अध्यात्मप्रबोध' अपरनाम 'देशनासार' नाम ग्रन्थोऽयं समाप्तिमगमत् श्रेयोभवतु-पाठकानाम् ।

आत्मानुभवी द्रव्यानुयोगी

उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्रजी म द्वारा विरचित



रूपान्तर कारिका

प्रवर्तिनी आर्य्या श्री सज्जनश्री जी म सा

श्री द्रव्यप्रकाश सार

प्रारम्भिक वक्तव्य

विश्व के समस्त दर्शन इन तीन आधारभूत प्रश्नो पर ही अवलम्बित हो निर्मित हुए है वे तीन प्रश्न है—(१) जगत् क्या है ? (२) आत्मा क्या है ? (३) परमात्मा क्या है ? प्रत्येक दार्शनिक ग्रन्थ मे विशेषतया इन्ही तीन की विशेष रूप से व्याख्या की गयी है, इन्ही का उत्तर देने का प्रयास किया है और जिज्ञासु की शकाओ का समाधान भी यथाशक्ति किया गया है ।

भारतीय दर्शनो मे 'चार्वाक दर्शन' के अतिरिक्त सभी दर्शन अध्यात्मवादी है । उनका मुख्य लक्ष्य परमात्मस्वरूप बनना या ब्रह्मलीन हो जाना है । आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ लेने और उसे प्रकट करने के लिए ही जगत् का स्वरूप भी समझना अनिवार्य है । जैन दर्शन जगत् को षड्द्रव्यमय मानता है । छह द्रव्य इस विश्व मे सदा शाश्वत-विद्यमान रहते है । इनमे से एक का भी कभी सर्वथा अभाव नहीं होता ।

भारतीय दर्शन पुराकाल से 'द्रव्य' को मान्यता देते रहे है । कतिपय दर्शन द्रव्य को 'पदार्थ या तत्त्व' भी कहते है, कुछ उसे 'सत्' भी मानते है । साराश कि विभिन्न दार्शनिक एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न नाम से अभिहित करते आ रहे है ।

भारत की प्राचीन भाषाओं-प्राकृत व संस्कृत मे इस विषय पर रचित सैकड़ों ग्रन्थ अब भी प्राप्य है और उनका अनुशीलन तत्तद् भाषाविज्ञ करते हैं । उपर्युक्त दोनों भाषाओं मे गुम्फित ग्रन्थों के अनुवाद, विश्व की कई भाषाओं मे हो चुके है । जैन दार्शनिक ग्रन्थ भी उनमे सम्मिलित हैं।

जैन दर्शन मान्य षड्द्रव्य निम्न है—

(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय,

(४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय, (६) जीवास्तिकाय ।

जैन आगमों व प्रकीर्णग्रन्थो मे इन्हीं पर विशद विचार समुपलब्ध है । मुख्य द्रव्य जीवास्तिकाय है—आत्मा है, उसी को समझने के लिए अन्य द्रव्यों को विशेषतया-पुद्गलास्तिकाय को समझने की आवश्यकता है, क्योंकि आत्मा की अनन्तशक्ति पुद्गल के द्वारा आवरित है । उस आवरण का सर्वथा हट जाना ही 'मुक्ति' है ।

वैसे सभी दर्शनो का लक्ष्य मुक्ति है, पर जैनदर्शन की मुक्ति की अपनी विशिष्टता है । प्रत्येक धार्मिक क्रिया का केन्द्रीय-लक्ष्य 'मुक्ति' है ।

अन्य द्रव्यो के साथ आत्मद्रव्य का सम्बन्ध कैसा है ? शाश्वत है या अशाश्वत? सापेक्ष है या निरपेक्ष ? हेय है या उपादेय । क्या हानि-लाभ है ? सम्बन्ध क्यों है ? कैसे छोडा जाय ? किन द्रव्यों से छूटता है ? किन से रहता है ? इत्यादि विचारणाएँ दार्शनिक ग्रन्थों मे की गयी है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'द्रव्यप्रकाश' भी जैन दार्शनिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है । द्रव्यानुयोग के महान् ज्ञाता १८वीं सदी के विज्ञ सन्तप्रवर श्रीमद् देवचन्द्रगणिवर्य महोदय ने शास्त्रों का रहस्य मन्दबुद्धिजनहितार्थ तत्कालीन जनभाषा में भी प्रकट किया है । वैसे उन्होंने संस्कृत व प्राकृत में भी अनेक ग्रन्थो की रचना की है । परन्तु वे तद्भाषा विज्ञजन ही हृदयङ्गम कर सकते है । समभावी सन्त-पुरुषों की दृष्टि सर्वत्र सम होती है, सामान्यजन की कल्याण भावना से साधारण बोलचाल की भाषा—राजस्थानी, गुजराती और तत् सामयिक कविजनादृत ब्रजभाषा में भी उन्होने गद्य व पद्य साहित्य का सृजन किया । उन्ही में से एक यह लघु रचना ब्रजभाषा मे गुम्फित है । इसमें दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्दों में द्रव्य स्वरूप का सुन्दर, सरस एव सरल वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।

वीर शासन सेविका

प्र आर्या सज्जनश्री

ग्रन्थ का सार

मगलाचरण मे प्रथम सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करने के साथ ही स्याद्वाद भाव को भी नमन किया है, वस्तु का यथार्थ ज्ञान स्याद्वाद से ही होता है । स्याद्वाद द्वारा स्वपर का भेदज्ञान कर स्व आत्मा को मुक्त किया जा सकता है । तदनन्तर अध्यात्म की महत्ता, मोह का विलास—जिससे आत्मा भोगों मे आसक्त रहकर स्वय को भूला हुआ रहता है । फिर षड्द्रव्य—१. धर्म, २. अधर्म, ३. आकाश, ४. काल, ५. पुद्गल और ६. जीव का नाम मात्र वर्णन कर स्वय की लघुता प्रकट करते हुए कहा है—

भूचर वामनसो सकति बिनु कहे ऐसो
लम्बी करि भुजा मे तो मेरु चूला फरसो,
तैसे मै अलपबुद्धि महा वृद्ध ग्रन्थ मण्डयो,
पण्डित हँसेगे निज ज्ञान के गहर सों ॥

एक पूर्व का ज्ञान होने पर भी गर्व का अशमात्र नहीं । इस नम्रता ने ही उन्हें इस लोक मे सर्वमान्य और भवान्तर मे तीर्थकर या सर्वज्ञ बनाया है ।

'द्रव्य प्रकाश' ग्रन्थ के पठनाधिकारी सम्यग्दर्शनवान् व्यक्ति ही स्वीकृत किये है । फिर देशविरति श्रावक कैसे होते है ? इसे बतलाया है । पुन वे आरम्भ मे सिद्ध स्तुति कर चुके थे; अतः शेष पदों—अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय एव साधु की स्तवना की है । 'द्रव्यस्तवना से पुण्यबन्ध और भावस्तव से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है' इसे स्पष्ट करते हुए श्रीमद् कहते हैं—

"द्रव्यस्तवना नाथ की, करता पुण्य प्रकाश ।
आतम के गुन गावता, केवलज्ञान विलास ॥"

प्रत्येक स्तवना मे स्तवनीय का स्वरूप समझाया है । आगे अविरति

आदि बन्धहेतु बतलाते हुए जो दर्शनज्ञानचारित्र जहाँ जिस गुणस्थान में पूर्ण होते हो, वही सिद्ध-मुक्त क्षेत्र है, कहकर मिथ्यादृष्टि—स्वपरज्ञान का अभाव, पुद्गलरमणता, एकान्तपक्ष का ग्रहण, पुण्याकाक्षा, कुगतिगमन का भय, सद्गति की अभिलाषा आदि को हेय बताया है । प्रस्तुत द्रव्यप्रकाश में तीन अधिकार है जिनमें से प्रथम मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एव काल इन चार द्रव्यो का वर्णन है । दूसरे अधिकार मे पुद्गलास्तिकाय एव तीसरे मे जीवास्तिकाय का वर्णन है ।

॥ प्रथम अधिकार ॥

फिर ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थपरिचय देते है कि जिसमें छहो द्रव्यों का स्याद्वाद पूर्ण वर्णन है ऐसा 'द्रव्य प्रकाश' ग्रन्थ सम्यक्त्व धारण करने के लिए है । यहाँ शिष्य शका करता है कि अन्य धर्मास्तिकायादि पाँच द्रव्य जानने की क्या आवश्यकता है ? जो ज्ञान रूप और आदेय है, उस चेतन द्रव्य-आत्मा को जान लेना ही काफी है । उसके उत्तर में कहते हैं कि—यद्यपि चेतन द्रव्य अनन्तगुण वाला है, वही ध्येय तथा आदेय-ग्रहण योग्य है, किन्तु वह स्वय को भुलाकर भव-कीच मे फँसा हुआ है, स्वय का भान होने पर मुक्त रूप से विचरने लगता है । चेतन की भूल का कारण पर-जडपुद्गल की सगति है । इसी कारण चञ्चल 'बनकर भ्रमण करता' है, पर को जानने पर उसका त्याग किया जा सकता है । अत दोनो को ही पण्डित जन बतलाते है । भेदज्ञान इसी से होता है और वही मुक्ति का पथ है । इसी मे ज्ञान व ज्ञेय है, भेदज्ञान बिना ध्यान व ध्येय की शुद्धता नहीं होती ।

निश्चय और व्यवहार, दोनों नयों से भेदज्ञान करना चाहिए । शुद्धनय निश्चय यथार्थ सत्यस्वरूप का बोधक है, व्यवहार क्रिया इससे विपरीत और भेदज्ञान मे कारणरूप न होने पर ज्ञानदृष्टि से त्यागने योग्य है, वस्तु को पहचान कर निजस्वरूप को शुद्ध करने का निश्चय कर लेना यह **शुद्धनय का स्वरूप है; यही हमारा सम्यक् मित्र है, इसके जैसा और कोई**

मित्र नहीं । ऐसे रत्नत्रय के स्वामी और अन्तर्यामी देव अन्य कौन हो सकते हैं ? अर्थात् शुद्ध स्वरूप को प्राप्त सिद्ध भगवान् ही हैं, ऐसे शुद्धनय से ही हमारी स्थिर प्रीति है ।

जिसका आधार मात्र तत्वहीन क्रिया हो वह वाह्यलिङ्ग व्यवहार नय है । इसमे भी शुद्ध व्यवहार तत्त्वज्ञान युक्त क्रिया ग्रहण योग्य और अशुद्ध व्यवहार त्यागने योग्य है ।

निश्चय शुद्ध नय की अपेक्षा यह आत्मा चिन्मय निष्कलङ्क चन्द्रवत् है । अनादि अनन्त है और मात्र द्योतक है ।

यहाँ शिष्य को सन्देह होता है, वह पूछता है—आपने व्यवहार नय को ज्ञानहीन पर और हेय वतलाया, फिर जैन शासन मे इसका वर्णन व व्यवहार क्यों है ?

उत्तर—मैने आत्म तत्त्व को जानने के लिए व्यवहार व निश्चय दोनों नयों का ग्रहण किया है । श्रीतीर्थंकर भगवान् ने तीर्थ प्रवृत्ति निमित्त दोनों नय वतलाये है ।

निश्चय लक्ष्य है, प्रवृत्ति व्यवहारमय होती है । शुद्ध व्यवहार द्वारा अशुद्ध आत्मा शुद्ध वनता है । भेदज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति शुद्ध व्यवहार है । भेद-ज्ञान ही मुक्त होने मे सहायक वनता है, भेदज्ञान के अभाव मे मुक्त नहीं हो सकता । अत भेदज्ञान की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं—जैसे कोई भव्यात्मा सदैव ज्ञान मे लीन रहता हो, वह कर्मो के बन्ध को एक क्षणमात्र मे उखाड फेकता है, उसमे भेदज्ञान ही मुख्य कारण है । वह चतुर और विवेकशील है, स्वपर का ज्ञाता है । बन्ध के चक्र मे फँसा हुआ तो आठों प्रहर मात्र कर्मबन्ध ही करता है और जाल मे फँसकर ससार मे भ्रमण करता रहता है । स्वपर भेद ज्ञानवाला ज्ञान से पुष्ट आत्मा कर्मसमूह को अपने क्षेत्र आत्मप्रदेश मे नहीं आने देता, अपने गुणों मे निवास करते हुए, गुण-ज्ञान दर्शनादि की रूप राशि का भास होता रहता है और वह स्वय को आत्मप्रदेश रूप अखण्ड समझता है । भेदज्ञान रहित आत्मा अनादि काल से मेघमालाओं से आच्छादित सूर्य के होता है । उसे अपने परमात्मस्वरूप का भान नहीं होता और स्वय

को पर-कर्म का कर्त्ता निश्चय से मानता रहता है । निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं, ऐसा सद्गुरु के उपदेश से जब आत्मा जान लेता है, तब वह अनादिकालीन मिथ्यात्व की निद्रा को त्यागकर जागृत हो जाता है, और चिन्तन करने लगता है—"मैं परद्रव्य-पुद्गल जडरूप नहीं हूँ, न यह पुद्गलादि परद्रव्य मेरे है" ऐसा भास-ज्ञान होने पर उसे बन्ध कैसे हो सकता है ? अत भली प्रकार जान कर व देख कर स्वय के परमश्रेष्ठ पद को ही ग्रहण करो, उस पद के सम्मुख अन्य पद कभी आत्मा को अच्छे नहीं लग सकते । प्रमाण, निक्षेप, नय आदि का ज्ञान उस परमतेज के आगे अस्त हो जाते है, स्वरूपज्ञान व भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है । –

'आत्मा परभाव का कर्त्ता नहीं' यह विचार कैसे करें ? इसकी रीति बतलाते है—

"आठों कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, भोग आदि सभी कर्म सम्बन्धी कार्य पुद्गल-पररूप है । मै तो इनसे पृथक् स्वतेजोमय ज्ञानादि तेज से पूर्ण कर्म विमुक्त हूँ" यह चिन्तन आत्मा को स्थिर बनाने वाला है, यही आगे के पद्य मे स्पष्ट किया है ।

श्रीमद् उदाहरण देते है कि जैसे वायु के स्तम्भित हो जाने पर सरोवर का जल स्थिर हो जाता है, वैसे ही ज्ञाता जीव कर्म को पृथक् समझता हुआ ,बन्ध मुक्त रहता है । अनन्तज्ञान के स्वामी आत्मा के साथ जो परभाव लगे हुए है, उन्हे ज्ञानयोग से दूर करता है ।

'जो आत्मा स्वयम्भू चेतनस्वरूप, अमल अनन्त बलशाली, त्रैल्योक्य का अधिपति है उसी का स्थिर होकर ध्यान करो और लोक से सम्बन्ध त्याग दो । इस प्रकार आश्रव का नाश होने पर सवरमय-स्वरूप बने हुए आत्मा को कर्म जो आत्मा के लिए अभोग्य है, उनसे कौन बाँधकर रख सकता है ? अर्थात् सवर भाव—त्याग सयम मे रहने से कर्म नहीं बँधते । वर्णादि सभी शरीर के अग है, उस शरीर का धारण कर्मवश होता है, जैसे स्फटिक के पीछे भाँति-भाँति के रगीन पत्र लगा देने से स्फटिक वैसे रग का दिखने लगता है पर वास्तव मे उससे पृथक् है ।

वैसे ही आत्मा भी कर्म सयोग से विभिन्न शरीरादि रूप एव परपरिणति रूप भासने लगता है । यद्यपि आत्मा स्फटिक के समान उज्ज्वल निर्मल है, तथापि रागद्वेष मोह अज्ञान की उपाधि के कारण ससार मे रहता हुआ अज्ञान के वश विकल-व्यग्र रहता है । फिर भी अपने ज्ञानादि स्वभाव का त्याग नहीं करता । जैसे स्वर्ण विविध भॉति के आभूषणादि का रूप धारण करता हुआ स्वर्ण रूप ही रहता है और कृष्णपक्ष मे राहु के कारण चन्द्र कला घटती दिखती है; किन्तु राहु से चन्द्रमा पृथक् है । वैसे ही पुद्गल के सग रहा हुआ आत्मा भी उससे वास्तव मे पृथक् है ।

ससारी आत्मा का स्वरूप

ससारी आत्मा अज्ञानवश पर-परिणति-रागद्वेष मोह काम आदि को अपनी और स्व की ज्ञानादि शुद्ध परिणति को पर मानता है; अत· रागी द्वेषी अहकारी मै हूँ ऐसे विकल्परूप मल से मिला हुआ कर्मों का बन्ध करके ससार मे व्यग्रतापूर्वक भ्रमण करता रहता है । जैसे किसी को भूत लग जाय वह अपना भान भूल जाता है; वैसे ही यह जीव भी मोहभूतवश भान भूलकर कर्म बॉधता रहता है । पर सयोग से स्व को पर का कर्त्ता मानता है जब ज्ञान से स्व-ज्ञानादि को अपना और पर-रागादि भावों को पर मान लेता है और छोड़ देता है तब अकर्त्ता होता है ।

जगत् मे षड्द्रव्य है उनमे एक चेतन द्रव्य के अतिरिक्त सभी 'पर' हेय हैं, शुद्ध चेतना से युक्त मात्र जीव ही सदा आदेय-ग्रहणयोग्य हैं । धर्मास्तिकाय आदि पॉच जड और हेय हैं; तथापि ज्ञेय तो हैं ही, अत स्याद्वादनयपूर्वक उनकी स्पष्ट व्याख्या करता हूँ । प्रथम द्रव्य का लक्षण वतलाते हैं ।

द्रव्य लक्षण

जो सदा विद्यमान रहे, जिसमे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होता है; वह सद् का लक्षण है । जो सत् रूप है वह द्रव्य है । तत्त्वार्थसूत्र मे भी "उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्त सत्" कहा है । जो अस्तिकाय है, वे द्रव्य है । **पॉच द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव अस्तिकाय हैं** । इनमे

से चार (पुद्गल के अतिरिक्त) अरूपी हैं । काल भी अरूपी है, यद्यपि वह औपचारिक द्रव्य है परन्तु छ द्रव्यो में वह भी एक है ।

चार द्रव्य–धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अरूपी है— अखण्डभाव को धारण करते हुए विद्यमान रहते है । इनमे भी अस्तिकाय–धर्म, अधर्म व आकाश तीन पदो—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है । काल अस्तिकाय न होने से उसमे उपर्युक्त त्रिपदी लागू नही पडती । ये चारो अपने-अपने गुणो से युक्त लक्षण सहित अपना कार्य करते है । एक दूसरे से पृथक् सत्ता वाले हैं । इन चारों से ही जीव वियुक्त रहता है । इनसे लिप्त नही होता और स्व सामर्थ्य से सिद्ध होता है ।

काल को छोड तीन—धर्म अधर्म आकाश का स्वरूप वर्णन किया है । ये तीनो एक-एक स्कन्ध स्वरूप है अक्रिय है । इनमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्य प्रदेशी, लोकाकाश प्रमाण और अचल है । आकाशास्तिकाय अनन्त प्रदेशी लोकालोक प्रमाण गुण पर्यायवान् एवं अक्रिय है । ये सभी यद्यपि जीव के समान ही स्व स्व गुणपर्याय लक्षणादि युक्त है, पर ज्ञेय है, ध्येय नही । ध्येय तो एक जीव है, जो लोकालोक का ज्ञाता है ।

धर्मास्तिकाय का लक्षण

जो पुद्गल और जीव को चलने मे सहायक है, वह धर्मास्तिकाय है । वह स्वयं अचल व अक्रिय है । यहाँ शंका होती है कि जो स्वयं अक्रिय है वह जीव व पुद्गल को कैसे प्रेरित करता है ? उसका समाधान जलमीन के दृष्टान्त द्वारा किया गया है । जैसे जल-जलचर जीव-मत्स्यादि को गमन मे सहायक रूप है । जल बिना वे चल नही सकते, वैसे ही जीव तथा पुद्गल भी धर्मास्तिकाय के अभाव मे गमन क्रिया नही कर सकते ।

अधर्मास्तिकाय का लक्षण

सहायक बनता है, वैसे ही अधर्मास्तिकाय भी ठहरने में निमित्त या सहायक है ।

आकाशास्तिकाय लक्षण

अवकाशदान आकाश का लक्षण है । सारे अन्य द्रव्य स्व-स्व-गुणपर्याययुक्त इसी आकाश में रहते है ।

धर्मादि तीन द्रव्यों के सामान्यतया आठ-आठ गुण हैं—

(१) अस्तिस्वभाव, (२) वस्तुस्वभाव, (३) द्रव्य स्वरूप, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरुलघुत्व, (६) सप्रदेशत्व, (७) अजीवत्व और (८) अरूपित्व ।

तीनों के ये आठ गुण जातीय है, इनमें कभी व्यभिचार अर्थात् मिलन एक दूसरे में गमन या मिश्रण अथवा विनिमय नहीं होता ।

गति, स्थिति और अवगाहना ये तीनों—धर्म, अधर्म व आकाश के क्रमश. असाधारण गुण है । सत् साधारण गुण हैं, जो तीनों मे समानरूप से है । द्रव्यों के गुण पर्याय का ज्ञान बड़ा गहन विषय है, इसी को समझाने का प्रयास इस 'ग्रन्थ' मे है । गुण कहकर अब गुण के पर्याय बतलाते हैं ।

गुण मे विकार होना पर्याय कहलाता है । पर्याय दो प्रकार के हैं—(१) स्वभाव पर्याय, (२) विभावपर्याय । अगुरुलघु मे विकार शुद्धपर्याय है । हानि वृद्धि रूप से उसके द्वादश भेद होते हैं—

१. अनन्त भाग हानि ।	१. अनन्त भाग वृद्धि ।
२. असख्यात भाग हानि ।	२. असख्य भाग वृद्धि ।
३. सख्यात भाग हानि ।	३. सख्यात भाग वृद्धि ।
४. अनन्त गुण हानि ।	४. अनन्तगुण वृद्धि ।
५. असख्यात गुण हानि ।	५. असख्यात गुण वृद्धि ।
६. सख्यात गुण हानि ।	६. सख्यात गुण वृद्धि ।

अगुरुलघु गुण व उसके ये शुद्धपर्याय छहों द्रव्यों मे समान ही है ।

विभाव पर्याय

स्कन्ध स्थानगत भेद को लेकर धर्मादि द्रव्यो के विभाव-पर पर्याय का कथन होता है । जैसे—आकाश की अपेक्षा से घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश आदि ।

आकाश के मूल भेद दो है-(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश । लोक अलोक के लक्षण—जहाँ छहों द्रव्य हों वह लोक है । जहाँ मात्र आकाश द्रव्य का ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता हो, वह अलोक है । अलोक सादि अनन्त है, वहाँ केवल आकाश रूप अजीव द्रव्य है । लोक में आकाश के असंख्यात प्रदेश है, उसी में गुणपर्याययुक्त छहो द्रव्य रहते है ।

शंका—लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है । उन्ही में असंख्यात प्रदेश वाले अन्य धर्मादि द्रव्य कैसे रह सकते है ? क्योकि जीव अनन्त है । वे भी तो असंख्यात प्रदेश वाले है और पुद्गल द्रव्य के सूक्ष्म अणु लोकाकाश व अलोकाकाश प्रमाण अनन्त है तथा काल की भी समय-समय अनन्त वर्तना है । इन सब का आधार लोकाकाश तो मात्र असंख्यात प्रदेश वाला है, धर्मादि पाँच ही आधेय है जिनमें दो अनन्त है । इतने छोटे स्थान में उन सबका समावेश कैसे हो सकता है ?

समाधान—एक पात्र जल से भरा हुआ है, उसमे तदुचित शर्करा डाली जाय वह गल जाती है, नमक की एक डली डाली जाय, वह भी उसी में मिल जाती है, फिर उसी में राख भी डाल दी वह भी जम गयी, पुन सुइयो का समूह लेकर उसी मे एक-एक करके अत्यन्त समीप रूप से खोस दी जाय इन सभी का जलपात्र मे समावेश हो जाता है । सभी पदार्थ पृथक्-पृथक् सत्ता के धारी है, फिर भी सर्व का समावेश जल मे हो जाता है, वैसे ही लोकाकाश में अवगाहगुण की शक्ति के कारण अन्य पाँचो द्रव्यो का भी समावेश हो जाता है ।

जैन दर्शन की मान्यता के विपरीत अन्य दर्शनियो की मान्यता है । वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय को नही मानते । उनका कहना है कि दोनो द्रव्य कल्पनामात्र है । वास्तव मे है नही, क्योकि ये प्रत्यक्ष, अनुमान,

उपमान और शव्द प्रमाण से ग्राह्य ही नहीं है । जैन दार्शनिक कहते है—ये काल्पनिक नहीं, आप्तकथित आगम व अनुमान से भी सिद्ध है, वास्तविक व नित्य है । जैसे अनुमान से इन्द्रिय व मनगृहीत भाव भी ससार मे सत्य है वैसे ही धर्मादि भी जीव पुद्गल की गति व स्थिति मे सहायक होने से सत्य है । इनके बिना गति व स्थिति नही हो सकती ।

आधुनिक विज्ञान भी गति मे सहायक 'ईथर' नामक तत्व स्वीकार करता है । जैसे दधि मे घृत दिखता नही, पर है अवश्य, वैसे ही धर्मादि अरूपी होने से दिखते नहीं, पर निश्चित रूप से जगत् में विद्यमान है ।

कालवादी कहते है कि गति स्थिति काल के आधीन है । बुद्ध (वौद्धों) की मान्यता है कि एक द्रव्य दो क्रिया नहीं कर सकता । तुम्हारे मतानुसार काल नव पुरातन क्रियाऍ करता है । ये दो क्रिया अकेला काल नहीं कर सकता ।

पचभूतवादियों की मान्यता है कि जल, अग्नि, वायु आदि एव गति, स्थिति आदि सभी कार्य पृथ्वी के ऊपर होने से पृथ्वी के आधीन हैं । बुद्ध का उत्तर है—वायु आदि भूत तथा जीव और जड़ इन सब की शक्ति पृथक्-पृथक् है, ये गति स्थिति मे सहायक रूप नहीं बनते । उत्तर—जीव और पुद्गल की गतिस्थिति मे धर्मास्ति व अधर्मास्ति द्रव्य सहायभूत हैं । जीव इनका ज्ञाता भी है, क्योंकि वह ज्ञानगुण युक्त है । अत· धर्मास्ति व अधर्मास्ति ये दो द्रव्य जिनके बिना गति स्थिति नहीं हो सकती, अनिवार्यरूप से लोकाकाश मे विद्यमान रहते है ।

कालद्रव्य के लक्षण

इसकी परिणति वर्तना स्वरूप है और यह नवीन को जीर्ण बनाने रूप क्रियाशील रहता है । नवीन वस्तु समय व्यतीत होने पर जीर्ण होती है, यह प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित है, अत· काल का असाधारण लक्षण भी यही है ।

कालद्रव्य भी यद्यपि उपर्युक्त अस्ति आदि आठ गुण युक्त है, तथापि अप्रदेशी और समय पृथक्-पृथक् होने से कायरूप नहीं है । वर्तना के हेतुभूत ये विशेष गुण जिनेश्वरदेव ने काल के भी कहे हैं । अगुरुलघुत्व

के पर्याय स्व पर रूप से उसमें रहते है । वर्तना स्वपर्याय और आवलिका, मुहूर्त, दिन, रात्रि आदि अनन्त पर पर्याय है । इन्ही मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होता है । काल द्रव्य अनन्त समय वाला है । वर्तनारूप से नरक्षेत्र—अढाईद्वीप मे वर्त्तता है ।

शंका—आपने काल की वर्तना नरक्षेत्र प्रमाण बतलायी और "उत्पादादि त्रिपदी समस्त लोक मे होती है और समय-समय होती रहती है" यह विपरीत कथन समझ में नहीं आता है, अत कृपया स्पष्ट समझाइये ?

समाधान—हम प्रमाण का पक्ष लेकर ही ऐसा कहते है । नरक्षेत्र में भी त्रिपदी तो काल की होती है, साथ-साथ सूर्य-चन्द्र के कारण दिन रात्रि आदि का भी समयविभाग होता है । वर्त्तना इसे ही कहा है । उत्पाद और ध्रौव्य शाश्वतरूप से छहो द्रव्यो मे होता है, ऐसा ज्ञानियो—सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवलज्ञानियो ने अपने ज्ञान दर्शन से जाना देखा है, अत वैसा ही उपदेश मे कहते और गणधर भगवान् उसी अर्थ को सूत्ररूप गूँथ कर आगमरूप से प्रकट करते है । उसी आगमप्रमाण से हम कहते है । त्रिकालवर्त्ती सभी ज्ञानिजनसर्वज्ञ-काल को सदा अनन्त समयात्मक देखते है ।

किसी अन्य आचार्य का कथन है कि कालद्रव्य अनन्त नही असंख्यात है, रेणुक है, स्थिर है, लोकप्रदेश परिमित है, एक-एक रेणुक मे अनन्त अनन्त 'समय' प्रकट होते रहते है । समय पृथक्-पृथक् है और कभी मिलते नही, अत अस्तिकाय नही कहलाते । अनन्तकाल व्यतीत हो गया उतना ही अनन्त अनागतकाल है । वह अप्रदेशात्मक और परिणामी है ।

वास्तविक काल स्वरूप

काल को मनुष्य क्षेत्र परिमित व्यवहार से कहा है । निश्चय से पाँचो द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय वर्त्तना ही कालस्वरूप है, काल अस्तिकाय ही नही है, तो सद्रूप न होने से उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी नही होता, अत काल

औपचारिक द्रव्य है । वास्तविक द्रव्य पाँच ही है ।

यद्यपि धर्मादि पाँच द्रव्यों मे त्रिपदी होती रहती है, अगुरुलघुत्व पर्याय भी चारों मे ही जीव के समान है; ये भी अरूपी, अखण्ड, अज, अनादि, अनन्त, सद्रूप एक दूसरे से सदा अनमिल और लोक प्रमाण है, सप्रदेशी है । इत्यादि जीव समान गुणवाले होने पर भी अजीव जड होने से ध्येय नहीं है । ध्येय तो मात्र ज्ञान चेतनावान् जीव है, वही अनन्तत्रिगुण—ज्ञानदर्शनचारित्र वाला, देवों मे चन्द्रमा के समान और ब्रह्मज्ञान का निधान होने से उपादेय है ।

॥ इति प्रथम अधिकार ॥

॥ द्वितीय अधिकार ॥

अरूपी और जड़ ऐसे चार द्रव्यों—धर्म, अधर्म, आकाश और काल का वर्णन प्रथम अधिकार मे किया गया । अब रूपी जड पुद्गल को सक्षेप से बतलाते हैं । इससे पूर्व पुद्गल सयोग से आत्मा कैसा और क्यों बन जाता है ? इसे कहते हैं—

जिस प्रकार समुद्र का जल, तीव्र वायु के योग से अत्यन्त ऊँचा उछलने लगता है, मन्दवायु से भी छोटी तरङ्गावलि युक्त चञ्चल ही रहता है । रंचमात्र भी कभी स्थिर नहीं रहता; वैसे ही यह चेतनराज भी यद्यपि स्वरूप से अमल स्थिर अखण्ड रूप से अनन्त ज्ञान राशि युक्त है, तथापि कर्मप्रेरित मोह के पवन से देहादि मे ममत्व भाव धारण करता हुआ क्षुब्ध होता रहता है । जिस प्रकार मृत्तिका जल सयोग से घट दीपकादिरूप सुन्दर आकार धारण करके तद्रूप दृष्टिगोचर होती हुयी तत्तत् कार्य करती हुई भी मृतिका ही है । उसी प्रकार अष्ट कर्मजल के सयोग से आत्मा भी चार गति रूप ससार मे विविध प्रकार से शरीर धारण कर सुख दुःख भोगता हुआ भी अखण्ड चेतनत्व युक्त सदा ध्रुव नित्य है । अपने ज्ञानादि गुणों सहित आत्मा अमल अखण्ड रूप को जब पूर्ण रूप से रत्नत्रय की आराधना द्वारा प्रकट कर लेता है तब वही सिद्ध ... है । उस सिद्ध स्वरूप को नमस्कार करके श्रीमद् देवचन्द्र गणि

महोदय कहते है कि ऐसे आत्मा के अतिरिक्त मोक्ष का साधक अन्य घर्मादि अचेतन द्रव्य नहीं हो सकते ।

पुद्गल द्रव्य पूरण-गलन स्वभाव वाला अस्तिकाय और मूर्तरूप है, स्पर्श वर्ण गन्ध और रस स्वरूप है । गुण पर्याय युक्त है । उसमें भी आठ गुण है—१ अस्तित्व २ वस्तुत्व ३ द्रव्यत्व ५ प्रमेयत्व ५ अगुरुलघुत्व ६ सप्रदेशत्व ७ अजीवत्व और ८ रूपित्व । ये सामान्य गुण है । पूरण गलन विशेष गुण है । षड्गुण हानि वृद्धि रूप मूल पर्याय है । द्वयणुकादि स्कन्ध रूप परपर्याय है । अणु अनन्त है । प्रत्येक अणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श ये ५ गुण है । ये भी मूलपर्याय स्वरूप है । अणु परिणामी होने से उसमे अन्य अणु से मिल जाने की शक्ति सदा वर्तमान रहती है । द्वयणुक, त्र्यणुक, संख्यात अणुक, असंख्यात अणुक और अनन्त अणुक के स्कन्ध बन सकने की शक्ति और सामर्थ्य होने व बनने से अस्तिकाय कहलाता है । ऐसे पुद्गल द्रव्य सम्पूर्ण (लोकालोक) आकाश प्रदेश जितने है । चौपड खेलने के सारिपाशे के संस्थान (आकार) वाले अनन्त स्कन्ध है । वे पुद्गल द्रव्य, अणु रूप एवं स्कन्ध रूप है । स्कन्ध भी दो प्रकार के है—जीवगृहीत, जीव अनगृहीत । जीवगृहीत अणु कार्मणादि कहलाते है, शेष अणु स्कन्धादिरूप है ।

मुक्त अणु अनन्त है, वे भी मिलकर स्कन्ध बन जाते है । स्कन्ध रूप बने हुये बिखर कर अणुरूप बन जाते है । इस प्रक्रिया को पूरण-गलन कहते है । ऐसा कहने वाले कि अणु अनन्त है, स्कन्ध अनन्त नही, वे शास्त्रज्ञानहीन है । यदि ऐसी मान्यता है तो 'द्रव्य पुद्गल' परावर्तन फिर कैसे घट सकता है ? अणु की जीव के समान ही गति है और स्थिति तो अनन्तकाल की अर्थात् नित्य है ।

अब स्कन्ध का स्वरूप कहते है—छाया, आतप, तेज, अन्धकार, प्रभा, उद्योत, शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श ये पुद्गल के रूप है । पुद्गल का स्वभाव मिलना, बिखर जाना, लघु या स्थूल रूप धारण करना आदि है । ये सब स्कन्ध रूप है । इनमें से भी कितने इन्द्रियग्राह्य और

कितनेक इन्द्रिय-अग्राह्य है । स्कन्ध तीन प्रकार के है—सख्यात अणुवाले, असख्यात अणु वाले और अनन्त अणुवाले । ये सव अचेतन जड़ ज्ञानहीन और हेय तथा ज्ञेय है; उपादेय तो मात्र चेतन स्वरूप ज्ञाता जीव ही है ।

कर्म प्रकृति विवरण १ बन्ध हेतु

जीव के कर्म वन्ध कैसे होता है ? अब यह वतलाते है—अनादिकाल से आत्मा कर्म सयोग के कारण मिथ्यात्व भाव मे लीन बना हुआ है, अर्थात् आत्म भाव को विस्मृत कर पुद्गल मे रमण कर रहा है; अत. अविरति मे क्रोधादि कषाय युक्त ही प्रवृत्ति करता रहता है इन सबके उत्तर भेद सत्तावन (५७) है—

पाँच मिथ्यात्व—१.आभिग्रहिक २. अनाभिग्रहिक ३. आभिनिवेशिक ४. साशयिक और ५. अनाभोगिक (इनका विस्तृत अर्थ अन्यत्र देखें, यहाँ सार मात्र लिखना है अत नामनिर्देश ही किया है)

बारह अविरति—१. स्पर्शेन्द्रिय अविरति २. रसनेन्द्रिय ३. घ्राणेन्द्रिय ४. चक्षुरिन्द्रिय ५. श्रोत्रेन्द्रिय ६. मन की अशुभ प्रवृत्ति ७. पृथ्वीकाय ८. अप्काय ९. तेजस्काय १०. वायुकाय ११. वनस्पतिकाय और १२. त्रसकाय की हिसा मे प्रवृत्ति ।

पच्चीस कषाय—१. अनन्तानुबन्धी क्रोध, २. अनन्ता. मान ३. अनन्ता. माया, ४. अनन्ता. लोभ, ५. अप्रत्याख्यानी क्रोध, ६. अप्रत्या. मान, ७. अप्रत्या. माया, ८. अप्रत्या. लोभ, ९. प्रत्याख्यानी क्रोध, १०. प्रत्या. मान, ११. प्रत्या. माया, १२. प्रत्या. लोभ, १३. सज्वलन क्रोध, १४. सज्व. मान, १५. सज्व. माया, १६. सज्व. लोभ एव १७. हास्य, १८. रति, १९. अरति, २०. भय, २१. शोक, २२. जुगुप्सा, २३. स्त्रीवेद, २४. पुरुषवेद, २५. नपुसक वेद ।

पन्द्रह योग—चार मनोयोग—१. सत्य, २. असत्य, ३. मिश्र, ४. व्यवहार मन । चार वचनयोग—५. सत्य, ६. असत्य, ७. मिश्र, ८. व्यवहार वचन । सात काय योग—९. औदारिक, १०. औदारिक मिश्र ११. वैक्रियक, १२. वैक्रियक मिश्र, १३. आहारक, १४. आहारक मिश्र, १५. कार्मण ।

इन सत्तावन हेतुओं से जीव, कर्म बाँधता है । बन्ध चार प्रकार का है—१ प्रकृति बन्ध, २ स्थिति बन्ध, ३ अनुभाग-रसबन्ध, ४ प्रदेश बन्ध । प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, स्थिति का कालनिश्चय, रस-शुभाशुभ । कर्मदल का सचय प्रदेश बन्ध है । इसे मोदक के दृष्टान्त से समझना चाहिये—जिस पदार्थ का मोदक बनाना है, वह प्रकृति है, कर्म प्रकृति मूलत आठ होती है । उत्तर भेद एक सौ अट्ठावन (प्रकृति) होते है । इनका बन्ध होना प्रकृति बन्ध है । मोदक के ताजा गुणकारी या अवगुणकारी रहने का समय स्थिति बन्ध है । शुभाशुभ विपाक देने की शक्ति रसबन्ध है, जैसे मोदक की चाशनी के अनुसार मोदक में मीठापन या कटुत्व होता है । कर्मदल का सचय कम अधिक रूप में होना प्रदेश बन्ध है, जैसे मोदक का छोटा बडा होना ।

कर्म प्रकृतियाँ

कर्म की मूल प्रकृतियाँ—१ ज्ञानावरणीय कर्म, २ दर्शनावरणीय कर्म, ३ वेदनीय कर्म, ४ मोहनीय कर्म, ५ आयुकर्म, ६ नामकर्म, ७ गोत्रकर्म, ८ अन्तराय कर्म ।

१ ज्ञानावरणीयकर्म—यह आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करता है । जैसे नेत्रो पर पाटा बाँध दिया जाय तो दिखायी नहीं पडता । इसके पाँच भेद है—मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन पर्यवज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय । इसके २ भाव है—क्षायिक व क्षायोपशमिक । सर्वथा आवरण हटकर ज्ञान का पूर्ण प्रकट होना अर्थात् केवलज्ञान होना क्षायिक भाव और अन्य चार ज्ञान होना क्षायोपशमिक भाव है । बन्ध में से कुछ क्षय और कुछ उपशम हो, वह क्षायोपशमिक भाव है ।

२ दर्शनगुण को आच्छादित करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है, इसे प्रतिहार के दृष्टान्त से समझना चाहिये । जैसे राजा के दर्शन करने की इच्छा वाले को प्रतिहार-द्वारपाल रोक लेता है, वैसे ही आत्मा की दर्शन शक्ति को यह कर्म रोक लेता है । इसके नव भेद है—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा,

प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि । इसके तीन भाव हैं—क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव । केवलदर्शन सम्पूर्ण कर्म का क्षय होने से व अन्य तीन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन क्षयोपशम होने से होते हैं । मोहोदय मे कारण रूप है । निद्रा पञ्चक उदयरूप है ।

३. वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण को हरण करने वाला, साता व असातारूप है । इसमे भी दो भाव हैं, मधुलिप्त असि के जैसा है । साता मधुरूप व असाता असि—तलवार स्वरूप है ।

४. मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय । इसका स्वभाव मद्य-मदिरा के जैसा है । मिथ्यात्वमोहनीय का स्वरूप—इसके उदय से प्राणी शरीर से प्रीति रखने वाला, इसका विश्वास करने वाला, अनीति का प्रेमी, पुण्यफल का अभिलाषी, जीवाजीवविवेकहीन, स्वपर से अज्ञात, बाह्य सयम, तप, अहिसा का पालक, आन्तरिक ज्ञान व भक्ति से शून्य होता है । यह मिथ्यात्व जिनेश्वरदेव की कृपा से ही किसी प्राणी का दूर होता है । प्रायः सम्पूर्ण विश्व के अधिकाश जीव इसी मिथ्यादर्शन वाले हैं ।

मिश्रमोहनीय—इस दृष्टि वाले जीव वीतरागदर्शन पर न राग रखते हैं न द्वेष । जैसे नारियल द्वीपवासी जीव अन्न न मिलने से नारियल ही खाते हैं, परन्तु उनका अन्न पर द्वेष या राग नही होता । वैसे ही ये जीव भी होते हैं ।

सम्यक्त्वमोहनीय—इस दृष्टि वाले जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं । सम्यक्त्व के उपशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन पाँच लक्षणयुक्त, शरीरादि परभावों से विरक्त, उत्तमनीतियुक्त, ज्ञान दृष्टिसम्पन्न, नि शकित्वादि दर्शन के आठ आचार के पालक, अतरग व बाह्य शान्तिवान्, इन्द्रिय सुखों से विमुख, मुक्ति के सम्मुख रहते हुये, अपनी ज्ञान दृष्टि मे वर्त्तते हुये, पापों का नाश करने वाले देवगुरु धर्म के प्रति प्रशस्त राग युक्त होने से सम्यक्त्वमोह वाले होते हैं । मिथ्यात्वदलिक तो

है, पर उज्ज्वल होते है । सर्वथा दलिकों का नाश न होने से ये क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन वाले है । पवित्र श्रद्धायुक्त रुचि वाले होने पर भी कभी कभी शकादि ५ अतिचार लग जाते है, अत क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता । क्षायिक में दर्शनमोह का सर्वथा नाश हो जाता है ।

चारित्रमोहनीय—इसके २५ भेद है । बन्ध के सत्तावन भेदों में २५ कषाय के नाम आ गये हैं । इस कर्म के उदय से जीव को देश या चारित्र नही आता ।

५ आयु कर्म के चार भेद है—नरकायु, तिर्यगायु मनुष्यायु देवायु । इसको कारागार के समान बतलाया है । यह भव-विपाकी कर्म है, अर्थात् एक भव में भोगा जाता है । जिस गति का आयु बँधता है, उसमें उतने काल तक जीव को रहना पडता है, जैसे कैदी को कारागार मे ।

६ नामकर्म के ९३ या १०३ भेद है । इनमें १४ पिंड प्रकृति कहलाती है ।

४ गति—नरक, तिर्यग्, मनुष्य, देव ।

५ जाति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय ।

५ शरीर—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस् और कार्मण ।

३ अंगोपांग—औदारिक, वैक्रियक, आहारक ।

१५ बन्धन—१ औदारिक औदारिक २ औदारिक तैजस् ३ औदारिक कार्मण ४ औदारिक तैजस् कार्मण, ५ वैक्रियक वैक्रियक ६ वैक्रियक तैजस् ७ वैक्रियक कार्मण ८ वैक्रियक तैजस् कार्मण ९ आहारक आहारक १० आहारक तैजस् ११ आहारक कार्मण १२ आहारक तैजस कार्मण १३ तैजस तैजस १४ तैजस कार्मण १५ कार्मण कार्मण ।

५ संघातन—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण ।

६ संघयण—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका, सेवार्त्त या छेवटा ।

६ संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्डक ।

५ वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत ।

२ गन्ध—सुरभि-सुगन्ध, दुरभि-दुर्गन्ध ।

५ रस—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर ।

८ स्पर्श—कठोर, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ।

४ आनुपूर्वी—नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी ।

२ विहायोगति—शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति । यों १४ के ७५ उत्तर भेद होते हैं ।

८ आठ प्रत्येकप्रकृति—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण, उपघात ।

१० त्रसदशक—त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सौभाग्य, सुस्वर, आदेय, यश कीर्त्ति ।

१० स्थावरदशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दौर्भाग्य, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्त्ति ।

पॉच बन्धन मानने से ९३ और १५ बन्धन लेने पर सर्व १०३ भेद हैं । सत्ता उदय उदीरणा वन्ध आदि कर्मग्रन्थादि से जानना चाहिये ।

७ गोत्र कर्म— इसे दो भेद है—उच्चैर्गोत्र, नीचैर्गोत्र । यह आत्मा के अगुरुलघु गुण को आवरित करता है ।

८ अन्तराय कर्म—इसके पॉच भेद है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय । यह आत्मा की अनन्त शक्ति का रोधक है ।

आठ कर्मो मे प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति —	जघन्य स्थिति
ज्ञानावरणीय कर्म ३० तीस कोडाकोड़ी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
दर्शनावरणीय कर्म की—तीस कोडाकोडी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
वेदनीय कर्म की—३० तीस कोडाकोड़ी सागरोपम	१२ मुहूर्त्त
आयु कर्म की—तेतीस सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
मोहनीय कर्म की—सत्तर कोडाकोडी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
नामकर्म की—बीस कोडाकोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त्त
गोत्र कर्म की— ”	”
अन्तरायकर्म की—तीस कोडाकोडी सागरोपम	अन्तमुहूर्त्त

रस बन्ध उत्कृष्ट रस सर्वघाति प्रकृति का होता है । देशघाति का मध्यरस, अघाति का हीन रस होता है । वर्ण गन्ध और स्पर्श से रस अनन्त गुण होता है । जब तक रस अनन्त नहीं होता तब तक कर्म का बन्ध नहीं होता ।

प्रदेश बन्ध, अष्ट वर्गणा—औदारिक वर्गणा, वैक्रियक वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, कार्मणवर्गणा । ग्राह्य व अग्राह्य दोनों प्रकार की अनन्त वर्गणाएँ है । विस्तार अन्य ग्रन्थों मे है, यहाँ नाम निर्देश मात्र है ।

आत्मा मोहकर्म के पाश में आबद्ध हुआ आठों कर्मों का बन्ध करता है । सर्वन्यून आयुष्कर्म के दलिक, उनसे अधिक नाम व गोत्र कर्म के, उनसे अधिक ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय के, उनसे अधिक मोहनीय कर्म के और उससे भी अधिक वेदनीय कर्म के दलिकों का बन्ध करता है । उदय मे कम अणुदल आते है । सरस नीरस भोजन के दृष्टान्त से वेदनीय समझना चाहिये ।

सर्वघाति परमाणु अधिक और देशघाति परमाणु थोडे बाँधता है । जीव की अनन्त शक्ति से परिणामो के अनुसार इनका विभाजन तत्क्षण हो जाता है । इस प्रकार बहुत से कर्म दलो से विविध प्रकार का कर्मबन्ध होता रहता है । फिर भी आत्मा के आठ रुचक प्रदेश सर्वदा मुक्त रहते है और शेष प्रदेशो को चारों ओर से वेष्टित कर प्रत्येक प्रदेशों के साथ अनन्त अनन्त कार्मण वर्गणा बँधी हुयी है ।

यद्यपि पुद्गल प्रकट रूप से स्पष्ट दिखायी पडते है और चेतन गुप्त रहता है । इसका कारण है पुद्गल रूपी है और जीव अरूपी है, फिर भी पुद्गल ज्ञाता नही, वह अचेतन है, जीव चेतन होने से ज्ञाता है वह लोकालोक को जानने की ज्ञान शक्ति से सपन्न है और देखने की भी अनन्त शक्ति युक्त है किन्तु अनादि काल से कर्मो से बद्ध होने पर भी निश्चयनय की दृष्टि से मुक्त और व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मबद्ध है । *आत्मा के तीन गुण ज्ञान दर्शन चारित्र सदा अक्षय है और ज्ञान का* समूह है । अपने चित् स्वभाव को आत्मा कभी नही छोडता ।

॥ "इति द्वितीय अधिकार" ॥

तृतीय अधिकार

(पूर्वार्द्ध)

पुद्गल द्रव्य का वर्णन कर अब सक्षेप से जीवद्रव्य का वर्णन करते है । तीनों काल अर्थात् अतीत वर्तमान और अनागत मे जो सदा चेतनावान् और ज्ञानादि गुणो की सम्पत्ति से सम्पन्न रहता है, पर पुद्गल से सर्वथा भिन्न अलिप्त रहता है, वह जीव है । वह न कर्म का कर्त्ता है न भोक्ता, स्वात्मधर्म से युत, असख्य प्रदेशवान्, चेतना मे रमण करने वाला, अस्ति आदि छह प्रकार के गुण युक्त, परभाव-पुद्गल-विषय कषायादि से भावित होने पर भी सदा स्वभाव मे ही निवास करने वाला, स्व पर भाव और भव-ससार की भीति से मुक्त, अनन्त आनन्दमय, सत्, सत्तायुक्त, अक्षय, रत्नत्रय का स्वामी और देवों मे चन्द्र के समान है । (यहाँ श्रीमद् का स्वनाम युक्ति निवेशित है ।)

जीव द्रव्य के चार पर्याय होते हैं—स्वभाव, विभाव, द्रव्य और व्यञ्जन । अगुरुलघु गुण मे विकार-स्वभाव । षड्गुण हानिवृद्धि रूप द्रव्य, नर नारक तिर्यग और देव विभाव पर्याय हैं इसे परपर्याय कहते हैं । मतिज्ञानादि रूप व्यञ्जन पर्याय हैं अर्थात् इनके द्वारा चेतना की व्यक्ति होती है । पूर्ण स्वभाव द्रव्य और व्यञ्जन इन पर्यायों से युक्त जीव चरम शरीर की त्रिभागन्यून अवगाहना से युक्त वाला सिद्धावस्था (मुक्ति) मे रहता है । ज्ञानादि अनन्त चतुष्क व्यक्त हो जाने से पूर्ण व्यञ्जनपर्याय, सदा स्वभाव पर्याय, मात्र आत्म द्रव्य स्वरूप बन जाता है । वहाँ स्वरूप का कर्त्ता भोक्ता और स्वामी बनकर अनन्तकाल पर्यन्त उसी रूप मे रहता है ।

प्रश्न—एक द्रव्य एक समय मे एक ही क्रिया का कर्त्ता है । दो द्रव्य एक क्रिया नहीं कर सकते और न दो क्रिया एक द्रव्य करता है । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है—कि अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा से आत्मा रागादि समूह से व्याप्त होकर तद्रूप बनकर कर्म का बन्ध करता है, उसका उदय होने पर व्यवहार से वेदक स्वभाव ग्रहण कर गत समय मे की गयी कर्म बन्ध रूप क्रिया का फल भोगता है । कृत कर्म भोगते हुए

नवीन का बन्ध करता है । तब एक समय में दो क्रिया एक ही जीव द्रव्य कैसे करता है ? इस विषय में मुझे सन्देह है, अत कृपया इसे स्पष्ट समझाइये ।

उत्तर—शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा स्वभाव का ही कर्त्ता है । ज्ञानस्वरूप वीतराग वीतद्वेष होने पर गुणराशि—रत्नत्रय की वृद्धि होती है । किन्तु कर्मबद्ध आत्मा पर सयोग के कारण विभाव में रमण करने वाला अज्ञान का ही मानो गृह बना हुआ है । अत द्रव्यत कर्म की उपाधि लगी हुई है । इसी कारण दोनों कार्य-बन्ध और भोग एक साथ करता हमें भासित होता है। सभी द्रव्य अपने ही स्वरूप में रहते हुये स्वरूप के ही कर्त्ता भोक्ता होते है । अनादि काल से कर्म-संग के वश हो आत्मा परभाव कर्त्ता भोक्ता बन गया है । भोग और बन्ध वास्तव मे एक सामयिकी क्रिया नही, एक जीवद्रव्य की क्रिया है, और मिथ्यात्व अविरति कषाय आदि के कारण कर्म का बन्ध कर कर्म फल को भोगता है । ऐसे भोग और बन्ध साथ-साथ होते रहते है ।

अज्ञानी जीवो को रागादि परभाव आत्मा के ही दिखाई पडते है, परन्तु वे वास्तव मे आत्मा के नही । क्योकि रागादि द्रव्य कर्मो का अवरोध कर जो आत्मा निर्मल बोध-ज्ञान को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र युक्त आत्मा रागादि दोषो का नाश करता हुआ केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लेता है ।

सम्यग्दर्शनादि युक्त ध्याता आत्मा भेदज्ञानपूर्वक ध्यान करता हुआ कर्म का बन्ध-अनुभाव व स्थिति रूप बन्ध नही करता । वह आत्मा के ज्ञान को क्रोधरूप न मानकर ज्ञान को ज्ञानरूप, क्रोधभाव को क्रोधमय मानता है । वास्तव में है भी ऐसा ही । ज्ञानस्वरूप आत्मा में क्रोधादि राग द्वेष मोहादि नहीं है, क्योकि वे आत्मा का स्वभाव नहीं, कर्म के स्वभाव रूप है । शुद्धात्मध्यान में वस्तु स्वभाव का ध्यान किया जाता है । ऐसा भेदज्ञान युक्त ध्यान कर्त्ता कर्मबन्ध से मुक्त रहता है । अशुद्ध, मोहादि कर्म को ग्रहण नहीं करता । जीव-चेतनमय है, कर्म रागादि पुद्गल रूप है । श्री जिनेश्वर भगवान् ने द्रव्यों के गुण और कार्य भिन्न-भिन्न बताये है ।

जव आत्मा ज्ञान द्वारा जीव व कर्म का स्वरूप जान लेता है, तव कर्म आने के हेतु मिथ्यात्व अविरति और कषाय योग के आश्रव का त्यागकर सवररूप प्रवृत्ति करता है, कर्म का वन्धन मिट जाता है। फलस्वरूप खेद भी नहीं रहता कि मेरे कर्म बँध रहे हैं। अतः त्याग अनिवार्य रूप से आदरणीय है।

ज्ञाता जीव त्याग मे विलम्व नहीं करते। वे सन्त जन आत्म शुद्धि करने वाले निजगुणों–चारित्रादि को ग्रहण कर उनमे लीन हो जाते हैं।

परगुण—वर्ण गन्ध रसादि जो त्याज्य है उन्हें त्याग देते हैं। आत्म–गुणों से विरुद्ध मिथ्यात्व कषाय अविरति से विरक्त होकर ज्ञानादि मे रमण करता है और मोहनीय के सुभट–क्रोधादि हास्यादि और वेद उससे दूर पलायन कर जाते हैं। स्वआत्मा के ज्ञानादि रग मे लीन होने से पुद्गल की क्रीड़ा से दूर, स्त्री से विमुख उसका स्पर्श भी न करने वाला श्रुताभ्यास ध्यानादि मे मग्न रहता है। ऐसे शुद्ध जीव कर्म स्वभाव के कर्त्ता नहीं होते, वे शान्तरस के अथाह सागर मे अवगाहन करते हैं। अत. भेदज्ञान, त्याग आदि अनिवार्य अग है। इनके बिना मुक्ति नहीं हो सकती।

उपदेश—हे मूर्ख ! चेतन ! व्यर्थ विकल्प न कर, चित्त मे क्रोधादि के विचार सकल्प सदा दुःखप्रद होते है। मात्र आत्म–स्वरूप का विचार करो और परायी वस्तुओं–विषयादि की खोज को दूर से त्याग दो। इस मानव भव को पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करो। वही श्रेष्ठतम वस्तु है, इसको पालने से जीव का ससार भ्रमण अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन जितना रह जाता है जो अनन्त अतीतकाल की तुलना मे नगण्य सा है। आत्मस्वरूप मे निश्चल प्रीति रखने से शीघ्र ही रत्नत्रय के सारे आवरण दूर होकर आत्मा ब्रह्मस्वरूप बन जाता है अर्थात् सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि रागादि चेतन से भिन्न नहीं, अनादि काल से एक रहे हैं, वह अनुरागी कैसे नहीं रहेगा ? सदा राग भाव मे ही रहता है, अतः रागादि का तादात्म्य सम्बन्ध है। इसका उत्तर है कि

इससे तो मुक्ति का ही अभाव हो जायगा क्योंकि जो बँधा नहीं है तो फिर मुक्ति कैसी ? और मुक्ति के अभाव मे आत्मा का भी अमरत्व, शुद्धत्व, चेतनता, ज्ञानमयता आदि का भी अभाव होगा । किन्तु ऐसा है नहीं, चेतन व जड का स्वभाव स्पष्ट अनुभव हो रहा है । अत तथ्य यही है कि चेतनसत्ता पृथक् और जडसत्ता पृथक् है, जड सग-मिथ्यात्व के कारण से रागादि का सम्बन्ध रहता है और वे जड पुद्गल रूप है । कर्म के ही रूप है, आत्मा के स्वभाव या रूप नही, अत अनन्त प्रकार के रागादि विकल्प करते हुये अपनी सीमा ज्ञानादि से बाहर निकलकर क्यों कर्म बधन किया जाय ? समस्त विकल्पो को छोड नित्य एक स्वात्म का अनुभव करे तो कर्म का बन्धन न होकर नवीन भव ही नहीं करना पडे । यह ज्ञान, स्वपर-भेद का ज्ञान परमात्मभाव मे रमण कराने वाला भवतरु का छेदक है । परमात्मा ही ध्येय और आदेय ग्रहण योग्य है, मुनिजनों के मन का आधार है ।

वीतराग जिनेश्वरदेव ने आत्मा का हितकर यह श्रेष्ठ उपदेश दिया है कि स्व-ज्ञानादिगुण का ग्रहण मुक्ति, और परभाव-रागादि में रहते हुये स्वगुण का त्याग ही ससार है ।

जीव का वास्तविक स्वरूप निश्चय से सिद्धात्माओं के समान है जहाँ इन्द्रियाँ, कर्म का प्रपञ्च, मनोवाक्काययोग, कर्म के हेतु, मार्गणा गति आदि का खेद, ध्यानध्याता का भेद, वचन की प्रवृत्ति आदि कुछ भी नही है । आत्मा सदैव शान्त, ध्रुव, निरुपाधि, पर-पौद्गलिक व्याधि मुक्त, परद्रव्य से सर्वथा भिन्न है, आत्मा मे उसका लेश भी नहीं हुआ, न काम है । ऐसा ज्ञानज्योति से दीप्त ज्ञानदर्शन चारित्र का ज्ञाता शुद्ध रूप स नित्य मेरे संग है, अर्थात् मै ऐसा सिद्ध स्वरूप हूँ, यह भावना ही आत्म भावना है इसे ही भेदज्ञान कहते है । इस प्रकार के भेदज्ञान वाला साधक जीव और कर्म का भेद हस के समान क्षीरनीरवत् पृथक् करके, मोह का विनाश कर देता है और आत्मा के ज्ञानादि गुण का ग्रहण करता है । शुद्ध रूप बनकर वीर के सदृश विजय प्राप्त कर अपने आप मे स्थिर हुआ, स्वयं आनन्दरूप अपना ही ध्यान, आप ही ध्येय और आप ही ध्याता, ऐसे तीनो का ऐक्य हो जाने से शुद्ध ज्ञान की द्विगुण वृद्धि हो

जाती है और कर्म का प्रवाह रुक जाता है, जिससे राग द्वेष न्यूनतम हो जाते है । भव समुद्र के तीर पर पहुँच जाता है ।

स्याद्वाद दृष्टि से चेतन का स्वरूप जैनदर्शन मे इस प्रकार है—आत्मा सद्रूप होने से 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत् इस सद् लक्षण युक्त है । गुणो व पर्यायो मे प्रत्येक समय उत्पाद व्यय और ध्रुवता होती रहती है । आत्मा स्वरूप की अपेक्षा से, एक भी है और सत्ता की अपेक्षा से अनेक भी है । कर्त्ता और अकर्त्ता भी है । भोक्ता अभोक्ता भी है । वह वुद्ध-ज्ञाता शुद्ध व्रह्मरूप मतिज्ञानादि चेतना स्वरूप है । पूर्ण प्रकाश केवलज्ञान होने पर सिद्ध रूप वन जाता है । ऐसा शुद्ध चेतन क्षणिक शरीर की सगति से नट के समान इस ससार रूप क्रीडाङ्गण मे विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर नित्य नये खेल करता रहता है, यह कैसा विस्मयकारी है ! यहाँ प्रश्न होता है कि अत्यन्त जाति भेद होने पर भी जीव और जड का पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हो रहा है ?

उत्तर—विषय, पुद्गल-मिथ्यात्व कषायादि भाव जीव को मूर्च्छित कर देते है, जैसे मदिरापान से वुद्धिविभ्रम हो जाता है वैसे ही कर्मवद्ध आत्मा भी स्वभान भूला हुआ रहता है । मोहनीयादि कर्मो की प्रकृतियाँ चुम्वक के समान आकर्षण गुण वाली है, इनके कारण नव नव कर्मपुद्गल आकर आत्मा के चिपक जाते है । और ज्ञानावरणीयादि कर्म आत्मशक्ति ज्ञानादिगुणो को ढँक लेते है, अज्ञान से विकल वने हुए चेतन को कर्मो की जञ्जीर से बाँधकर अन्य कर्म ससार मे भ्रमण कराते रहते है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि क्या जड पुद्गल के अणुओं मे इतनी शक्ति होती है कि वह अनन्त बलशाली आत्मा के ज्ञानादिगुणों को आवृत करके उसकी चेतना शक्ति को पूर्णतया मूर्च्छित कर दे ?

उत्तर—जी हॉ ! इसे दृष्टान्तो से समझिये—जैसे कोई पुरुष सदाचारी है, किन्तु मद्यपान कर लेने पर वह उन्मत्त हो, अकार्य तत्पर होता है, अत्यधिक पान कर लेने पर मूर्च्छित तक हो जाता है; वैसे ही आत्मा भी दर्शनावरणीय कर्म के उदय से स्त्यानर्द्धि-निद्रावश हो निगोदादि मे मूर्च्छित ही रहता है । ज्यों ज्यों दर्शनावरणीय कर्मभोग देकर

उससे हटता है, त्यों त्यों उसकी मूर्च्छा घटने लगती है फिर भी प्रभावित बना हुआ ऊँघता रहता है । वैसे ही आत्मा भी पचेन्द्रियत्व प्राप्त कर लेने पर भी मोह-मिथ्यात्व के प्रभाव से अनभिज्ञ रहकर अकार्य मे रागादि में तत्पर होता रहता है । विकास मे ब्राह्मी आदि पदार्थो के समान ज्ञान, दया, दान, सहनशीलता के प्रभाव से बुद्धि के विकास के सदृश ज्ञानादि का भी विकास होने लगता है । वास्तव मे चेतन के साथ अज्ञान का अनादि सम्बन्ध है । ऐसा न मानने पर सभी कार्य ज्ञान तप सयम मुक्ति आदि आकाश पुष्पवत् असम्भव हो जाते हैं । जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी वह अपना स्वरूप और विभाव की अनादि सत्ता मानने पर तो एकता (जीव कर्म की) का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है और द्वैतभाव (पृथक् सत्ता) ही नहीं रहता । फिर तो ज्ञान के समान ही सदा कर्म का भी सम्बन्ध रहना चाहिये ।

उत्तर—स्वर्ण खान में से निकलता है, वह अनेक अतिरिक्त मिट्टी आदि से मिला हुआ रहता है, किन्तु अग्नि के सम्बन्ध से सारी मिलावट दूर होकर स्वच्छ स्वर्ण रह जाता है । जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि अनन्त नहीं, अनादि सान्त है, क्योकि हेतु मिलने पर टूट जाता है । ऐसा भव्य के होता है । जाति भव्य और अभव्य के कर्म का सम्बन्ध अनादि अनन्त होता है । वहाँ पृथक् करने के हेतु का अभाव रहता है । जो आत्मा सम्यग्-दर्शन प्राप्त कर लेता है वह, स्वभाव का कर्त्ता माना जाता है । वह व्यवहारनय की दृष्टि है । शुद्धनय की दृष्टि से तो आत्मा सदैव स्वभाव का ही कर्त्ता है पर-परिणाम का नहीं । कर्म ही उस आत्मा के स्वभाव को शक्ति को अपनी ओर खेचकर अपने कार्य में लगाता है, अत कर्म मल को दूर करने पर शक्ति व्यक्त हो जाती है, तब आत्मा स्वाभाविक क्रिया करने लग जाता है और मुक्त हो जाता है ।

असद्भूत भावकर्म का कर्त्ता निश्चय से जीव नहीं है । व्यवहारनय सदा जीव और कर्म दोनों का ग्राहक है ।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है–भगवन् ! जीव और कर्म व्याप्यव्यापक भाव से है या अन्य भाव से ? कर्म का कर्त्ता जीव निश्चय से नहीं है तो वह फिर द्रव्य कर्म-पुद्गल कैसे करेगा ? क्योंकि चेतन तो पृथक्

सत्तावान् है जहाँ व्याप्य भाव होता है; वहाँ तन्मयता होती है ? जैसे ज्ञानादिगुण उपर्युक्त भाव से आत्मा के हैं । कर्म, जीव का व्याप्य-व्यापक कहना अनीति है, क्योंकि कर्म जड, और आत्मा चेतन है । दोनो का उपर्युक्त भाव हो नही सकता । अत जीव कर्म का कर्त्ता कैसे माना जाय ? यदि मानों तो दोनो का अनादि अनन्त सम्बन्ध भी मानना होगा । तव मुक्ति का ही अभाव हो जायगा । अत. हमारी शका दूर करने की कृपा कीजिये ।

उत्तर—आत्मा के कर्म जनित अशुभ परिणाम ही कर्म के निमित्त हैं और वैसे अशुभ परिणामों के निमित्त पूर्वकर्म हैं, जो आत्मा के साथ अनादिकाल से बद्ध हैं । दोनों का परिणामों और कर्मों का हेतुहेतुमद् भाव है । पर भावों को अज्ञानदशा के कारण भ्रमवश जीव, स्वभाव समझता रहता है । जैसे चुम्बक की आकर्षण शक्ति का निमित्त कारण लौह है, लौह के आकर्षण का निमित्त चुम्बक है; किन्तु चुम्बक और लौह पृथक् पृथक् हैं । वैसे जीव और कर्म पृथक् होते हुये भी सयोग होने से परस्पर आबद्ध होते रहते हैं । निश्चयनय की अपेक्षा से दोनों स्व स्व धर्म के ही कर्त्ता और भोक्ता है ।

मीमासक मत

इस मत की मान्यता है कि, जीव ब्रह्म पृथक् है और प्रकृति ही सुख दु ख, ससार भ्रमण, जन्म मरण, मुक्ति आदि की कर्त्री है । ब्रह्मस्वरूप जीव इनका न कर्त्ता है न भोक्ता ।

जैन दर्शन की मान्यता—यदि जीव सर्वथा पृथक् ही है, तो प्रकृति का सम्बन्ध कैसे होता है ? प्रकृति ही ससार भ्रमणादि एव मुक्ति, दोनों क्रिया कैसे कर सकती है ? क्योंकि प्रकृति जड स्वरूप है, वह सुख दुःखादि की निमित्त हो सकती है, यह सत्य भी है· किन्तु मुक्ति की कर्त्ता प्रकृति नहीं हो सकती । सुख दु खादि प्रकृति के कार्य और मुक्ति आत्मा का कार्य है । कर्त्ता अपना कार्य कर सकता है और भोक्ता भी वही है । प्रकृति का कार्य—मुक्ति नहीं; क्योंकि मुक्ति रूप कार्य का भोक्ता आत्मा है; अत· मुक्ति आत्मा का कार्य है । हम निश्चयनय की दृष्टि से ब्रह्म-आत्मा को सदा ज्ञान का कर्त्ता भोक्ता मानते है । मुक्ति का कर्त्ता

भी आत्मा को मानते है, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से कर्म का भोक्ता और कर्त्ता भी स्वीकार करते है । ब्रह्म, प्रकृति का सम्बन्ध भी अनादि है । ऐसा होने पर भी ब्रह्म जब सुषुप्ति मे से जागृतावस्था में आता है, तब स्वयं से प्रकृति को पृथक् समझकर उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है और मुक्त होता है ।

ब्रह्मवादी मत

इनके मत मे ब्रह्म एक है और वह सदा अखण्ड ध्रुव ज्ञान मुद्रा धारक ब्रह्मलोक में निवास करता है । जगत् में जितने जीव है, वे सब उसी के अश है । वे जीव जड और ज्ञाता दोनों प्रकार के है, ये ही नये-नये शरीर धारण कर ससार मे भ्रमण करते हुये सुख दुख भोगते रहते हैं । उस पूर्ण ब्रह्म की जब इच्छा होती है, तब उस अश को अपने में मिला लेता है । इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म स्वाधीन है । उसे कर्मवश सुख दुःख होता है, ऐसा कौन कहता है ? वह तो नित्य मुक्त है । वैसे ही अश भी होते हैं ।

जैन दर्शन द्वारा उक्त मत का निराकरण—

ब्रह्म का स्वभाव इच्छातीत रहित होता है, वह दोषों से मुक्त, शिव रूप माना गया है । इच्छा स्वयं ही दोष रूप है । आत्मा असख्य प्रदेशी है । त्रिकाल अखण्ड प्रदेश युक्त रहता है । वह अश रूप से पृथक् होता है, तो अखण्ड कैसे ? और अंश खण्ड रूप बनने का क्या हेतु है ? इच्छा को हेतु मानोगे तो इच्छा दोष रूप होने से शुद्ध ब्रह्म की मान्यता कैसे होगी ? अत ब्रह्म आत्मा अनन्त है । वे सभी चैतन्य स्वरूप, ज्ञानपुञ्ज, नित्यानित्य भाव युक्त, शुद्धनय की अपेक्षा से पर-भाव के अकर्त्ता अभोक्ता है । उनमें जो कर्म सहित है, वे विभाव-काम क्रोधादि के वशीभूत हो रहे है, वे ससारी है, जन्म मरण के चक्र में निरन्तर भ्रमण करते हुये चारो गतियों में कृत कर्म के भोग स्वरूप सुख दुख भोगते रहते है । जो कर्म मुक्त हो गये है, वे शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त मात्र ब्रह्म स्वरूप है । सारांश कि जीव अनन्त है, स्वतन्त्र सत्ता वाले है । किसी एक ब्रह्म के आधीन नहीं ।

बौद्धमत की मान्यता—

बौद्ध क्षणिकवादी हैं । इनकी मान्यता है कि ससार के सभी पदार्थ जीव भी क्षणस्थायी हैं । जो जीव प्रथम क्षण मे था, वह द्वितीय क्षण मे नहीं रहता । जो प्रथम क्षण मे कर्त्ता रूप है, वह पलट जाने से भोक्ता भी अन्य हो जाता है । वे पर्याय को ही सर्वतोभाव से द्रव्य मान लेते हैं और अपने इस आग्रह के कारण जीव के अखण्ड–ज्ञानगुण की धारा को ही काट देते हैं ।

जैनदर्शन की अपनी मौलिकता है । वह वस्तु–द्रव्य को नित्य सदा काल स्थायी मानता है । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है । परिवर्तन पर्याय मे होता है न कि द्रव्य मे । यदि जीव द्रव्य क्षण क्षण मे नया नया बने तो स्मरण की श्रृखला छिन्न–भिन्न न हो जाय । चैतन्य का स्मरण ज्ञान अखण्ड धारा रूप है, उसका प्रवाह रुक जाने पर यह स्मरण कि 'अमुक कार्य मैने अतीत समय मे किया था' 'यह मेरा किया हुआ है' 'भविष्य मे मैं अमुक कार्य करूँगा' इत्यादि । क्योंकि बाल्यावस्था मे किया गया कार्य युवा और वृद्धावस्था मे भी स्मरण मे आता रहता है । एकान्त रूप से जीव को क्षणिक मानने से यह कैसे सम्भव होगा ? अत क्षणिकवाद युक्तियुक्त नहीं । एक द्रव्य मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की मान्यता सत्य व युक्तियुक्त है । द्रव्य ध्रुव निश्चल रहता है, पर्यायों मे प्रत्येक समय उत्पाद व्यय होता है ।

नैयायिकमत और उसका निराकरण

नैयायिक उद्यम को प्रधान मानता है, उसका कहना है कि सभी कार्य पुरुषार्थ से होते हैं । सन्तानोत्पत्ति, कृषि, उद्योग, शिल्प, भोजन आदि सभी कार्य पुरुषार्थ से सम्पन्न होते हैं । भाग्य की पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म की मान्यता मिथ्या है । पुरुषार्थ के बल पर ही सब कुछ होता है । इसीलिए हम विश्वनाथ ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं । उसी प्रकार सभी जीवों के उद्यम को ही सर्व कार्य के सम्पन्न होने मे स्वीकार करते हैं ।

स्याद्वादी जैनसिद्धान्त ऐसी एकान्त बात नहीं कहते है । जैन भाग्य, पुरुषार्थ आदि सभी को स्वीकार करते हुए वर्तमान व्यावहारिक कार्यो के उद्यम को आत्मा का शुद्धकार्य स्वीकार न कर पूर्वकर्म जनित सस्कार का फल मानते है । चैतन्य का शुद्ध वीर्य जाग्रत होने पर तो वह परभाव-व्यावहारिक कार्यो का कर्त्ता ही नहीं रहता । कर्म के उदय से जो उद्यम होता है, वह तो कर्म का ही बन्ध कराता है । आत्मा का वास्तविक उद्यम रत्न-त्रय-ज्ञानदर्शन-चारित्र को जो निजगुण है, उन्हे उज्ज्वल बनाने का होता है । जीव और जड के भेदज्ञान के अभाव मे आत्मा मे परभाव समस्त व्यावहारिक कार्य का स्वामित्व कर्तृत्व और भोकृत्व का अहंभाव--'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ' रहता है ।

कालवादी मत विमर्श

कालवादी का कहना है कि जगत के सभी कार्य काल के आधीन है और समय पाकर ही होते है । मनुष्य भी समय पाकर बालक से तरुण बनता है, तरुण वृद्ध बनता है । ऐसे ही सभी वस्तुये—वृक्षादि भी समय पाकर फलते फूलते है । काल के प्रभाव से ऋतु परिवर्तन, जन्म मरणादि भी होते है । सारांश कि सुख दुःख, रवि चन्द्र ग्रहादि का उदयास्त, जन्म मरण, संसार भ्रमण और मुक्ति भी कालाधीन है ।

जैनदर्शन काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुषार्थ इन पाचो समवायो के मिलने पर सभी कार्यो का होना स्वीकार करता है, "वह इन पाँचो मे से एक का भी अभाव हो तो कार्य नही होता" ऐसा मानता है । केवल एक का ग्रहण एकान्तवाद है, जो मिथ्या है अतः स्याद्वाद दृष्टि से ही यथार्थ ज्ञान होता है । किसी एक पक्ष को ग्रहण करने से वस्तु का ज्ञान नही होता । सभी पक्षों से देखना विचारना चाहिये । चार प्रमाण, सप्तनय, चार निक्षेप, और सप्तभङ्गी से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है ।

मीमांसक कर्म को व वेदान्त ब्रह्म को मानते है । वे मात्र द्रव्यार्थिक नय ग्रहण करते है । क्षणिकवादी पर्यायार्थिकनय मात्र ग्रहण करते है । नैयायिक कर्मवादी है और उद्यम के पुरुषार्थ के ही पक्षपाती है । शैव कालवादी है । पाँच समवाय मे से केवल काल को ही लेते है । इस

प्रकार से सभी अशग्राही हैं । स्याद्वादी सर्वग्राही है और एक ही वस्तु को अनेकता से ग्रहण करते हैं, अर्थात् पूर्णता से जान सकते है । अशग्राही तो उन सात चक्षुहीनों के समान हैं, जो हाथी का एक-एक अवयव-शुण्डा, गजदन्त, पद, पुच्छादि पकड़कर उतना ही गज मान वैठते हैं । चक्षुयुक्त मनुष्य तो सर्वाङ्गसम्पूर्ण गज को देखता है और उसे ही गज स्वीकार करता है । मात्र अग विशेष को नहीं । उसी प्रकार अनेकान्तवादी भी वस्तु की पूर्ण जानकारी को ही वास्तविक ज्ञान स्वीकार करते हैं ।

प्रकृति को ही मुख्यरूप से स्वीकार करने वाले, व्यवहार नयग्राहक मात्र हैं । एकान्त ब्रह्मवादी निश्चयनय को ही ग्रहण करते हैं । क्षणिकवादी पर्यायार्थिक नयमात्र के और उद्यम-पुरुषार्थवादी भी इसी के ग्राहक हैं, कालवादी की भी वास्तव मे यही मान्यता है ।

यथार्थ मे ये सभी जीव के परिणाम हैं । प्रकृति-कर्मजनित व्यवहार है । निश्चय से प्रत्येक आत्मा नित्य, ज्ञान स्वरूप है । पर्यायनय अध्रुव-अनित्य होने से सूक्ष्म और परिवर्त्तनशील है, पुरुषार्थ आत्मा का कर्तृत्व स्वभाव है । भले वह स्वाभाविक हो या वैभाविक । जो कि आत्मा के सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान पर निर्भर है । काल प्रवाह रूप चक्रगति वाला है । इस प्रकार आत्मा-जीव अनेक अगयुक्त है । किसी एक अग को ही ग्रहण न कर सर्वाङ्गग्राहक ही बुद्धिमान् है । एक ग्राहक बुद्धिहीन है या कुबुद्धि है । बुद्धिमान् व्यक्ति युक्तियुक्त, प्रमाणसिद्ध, वस्तुज्ञान को स्वीकार करते हैं । और स्याद्वाद ही ऐसा करने मे समर्थ है, एकान्तवाद नहीं ।

स्याद्वाद का स्वरूप

१ स्यादस्ति २ स्यान्नास्ति ३ स्यादस्तिनास्ति ४ स्यादवक्तव्य ५ स्यादस्ति अवक्तव्य ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य ७ स्यादस्तिनास्ति युगपद् अवक्तव्य । यहाँ स्यात् का अर्थ कथचिद् किसी अपेक्षा से किया है । कदाचित् नही ।

१ स्यादस्ति जीव । जीव कथचित् है, अर्थात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा से है ।

२ स्यान्नास्ति जीव । जीव कथचित् नही है, अर्थात् परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नही है ।

३ स्यादस्तिस्यान्नास्ति जीव । जीव कथचित् है, कथचित् नही है । अर्थात् जीव में स्वद्रव्यादि से अस्तित्व और परद्रव्यादि से नास्तित्व है । यहाँ क्रमश विधि और निषेध की विवक्षा की गयी है ।

४ स्यादवक्तव्यो जीव । जीव कथचित् अवक्तव्य है । जहाँ विधि निषेध दोनो की एक साथ विवक्षा होती है, तब दोनों को एक साथ बताने वाला कोई शब्द न होने से 'जीव को' अवक्तव्य कहना पडा है ।

५ स्यादस्ति अवक्तव्योजीव । केवल विधि और एक साथ विधि निषेध की विवक्षा होने से 'जीव है और अवक्तव्य है' यह भग बनता है ।

६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीव । 'जीव नही है और अवक्तव्य है' यहाँ निषेध मात्र तथा एक साथ विधिनिषेध की विवक्षा होने से ऐसा कहा जाता है ।

७ स्यादस्तिनास्ति युगपत् अवक्तव्योजीव । यहाँ क्रमश विधिनिषेध दोनो की और एक साथ विधि निषेध दोनो की विवक्षा से 'जीव है, ' 'नही है' और अवक्तव्य है ।

इसी प्रकार जीव विषयक नित्य, अनित्य । सत्, असत् । वक्तव्य, अवक्तव्य । एक अनेक आदि सभी अभिमत है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जीव नित्य भी है, तो पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य भी है । इसी प्रकार अन्यत्र भावना कर लेनी चाहिये । ऐसा यह सच्चिदानन्द आत्मा ज्ञान दर्शन चारित्र की साधना से स्वरूप को प्रकट कर पूर्ण शुद्ध सच्चिदानन्दमय बनकर सदा के लिए सिद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है ।

श्रीमद् ने जीवस्वरूप का निरूपण इस तृतीय द्वार के पूर्वार्द्ध में किया है । अब तृतीय द्वार के उत्तरार्द्ध में जीव को कर्ममुक्त करने की साधना का निरूपण कर रहे है ।

तृतीय द्वार का उत्तरार्द्ध

जीव को नवीन २ गुणमय जानना सविकल्पज्ञान है । एक चिन्मय स्वरूप का ध्यान कर्मनाशकारक है, निर्विकल्प ज्ञान है ।

आत्मा अनादिकाल से अज्ञानी बना हुआ, रागद्वेषरूप मदिरापान करता रहा है, इससे अज्ञान मे महान् वृद्धि होती रही और विषयकषाय ने वशीभूत कर आत्मा के ज्ञानगुण को अवरुद्ध कर दिया तब विभाव ने अपना साम्राज्य विस्तृत कर लिया है । निर्विकल्प शुद्ध आत्म स्वरूप के ध्यान के प्रताप से साधक आत्मा, अज्ञान के प्रबल प्रताप को नष्ट कर देता है, कर्म की श्रृखला को तोड मरोड़ डालता है, अज्ञान के साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर ज्ञान का साम्राज्य स्थापित कर लेता है; अत· निर्विकल्प ध्यान ही मुक्ति का हेतु है । यही ध्यान ज्ञान का धाम, असीम आनन्दमय, कर्म के पाश को तोड़ने वाला, अनन्तवीर्यशक्ति सम्पन्न, क्षायिक भाव के योग्य, उज्ज्वल परिणामों से युक्त, मोह का नाशक, आत्मा का रक्षक है । उसी का अवलम्बन लेकर अपने ज्ञान का प्रसार करना चाहिये । आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने मे यही ध्यान एकान्त रूप से हेतु है । यह अज्ञानतम और त्रयताप को नष्ट करने वाला है ।

यह शरीर भी हेय–त्यागने योग्य है । अनादि अनन्त ज्ञान ज्योतिर्धर, निज को पर का कर्त्ता मानता हुआ, अज्ञान का निवास स्थान बन गया है, उसे स्वरूप का भान तक नहीं रहा । ज्ञान–दृष्टि छूट जाने से शरीर पर ही चेतन की भ्रान्ति हो गयी है । मैं पर का–पुद्‌गल कर्म का 'कर्त्ता हूँ' ऐसा भ्रम हो गया है । जैसे वारुणी पी लेने पर मानव भान भूल जाता है; वैसे ही मोह की मदिरा पीकर आत्मा भी भान भूल रहा है; स्व पर का भेद करने का ज्ञान नहीं है । हे आत्मन् ! जैसा इन्द्रिय विषयों के भोग पर अनुराग है, वैसा आत्मज्ञान पर अपने चित्त मे अनुराग रख ! यही मुक्ति का मार्ग है । दृढ़ धारणा कर कि जो रूपी है—(शरीरादि) वह मैं नहीं हूँ । मैं तो अरूपी चिन्मय हूँ ! अत· समस्त पर–भाव को छोडकर एक मात्र आत्मा के स्वरूप का विचार कर, जिससे इस देह का ममत्व छूटे और आत्मतत्त्व पर दृढ़ विश्वास हो जाता है । यह शरीर नश्वर है, इसे अपना मानने वाला मूर्खशिरोमणि है । यह तन पुद्‌गल–जड का पिण्ड है, तू आनन्दमय चेतनरूप है । यह अनमेल मिलन अर्थात् जड़ चेतन का मिलान न जाने किस प्रकार हो गया है । हे चेतन ! तू वैसे मास, अस्थि, रुधिर, मलमूत्रादि देखकर घृणा करने लगता है । किन्तु

उन्ही मांसादि के समूह शरीर को अपना मान कर उसके बाह्य स्वरूप पर मोह करता है । यह तेरी कितनी अधिक घोर अज्ञानदशा है । अतः हे चतुर ! विचक्षण ! तुम इस शरीर का मोह छोड दो, इसका मोह तुम्हें आतुर-आकुल-व्याकुल बनाता है, किन्तु यह गन्धर्वनगर के समान-अर्थात् आकाश मे बादलों की नगर रचना के सदृश क्षणभङ्गुर देखते-देखते नष्ट हो जाने वाला है । रूप की शोभा भी बादलों की छाया के समान क्षणिक है। इस तन में बहुत दिनों के शव (मुर्दे) की सी दुर्गन्ध आती है, यह रोगादि दूषणों का घर कहा गया है । अत शरीर की ममता छोड दो तो तुम मे आत्मज्ञान की ज्योति जगमगा उठे । देहादि की ममता छोड उसे आत्मा से भिन्न अनुभव कर आत्मा मुक्ति के समीप पहुच जाता है । इस शरीरादि पर-वस्तुओं पर अपनत्व का अभिमान रखना ही भव भ्रमण का मूल है ।

निस्पृह भाव रखना ही श्रेयस्कर है । निस्पृह भाव ही पापनाशक, मुक्तिमार्ग का साथी, पक्षपात से सर्वथा विमुक्त, अध्यात्मनृपति, परमसुख रूप श्रेष्ठ भेदज्ञान भाव का धारक, परभाव का हरण करने वाला कर्मनाश का उपाय तन, मन, स्त्री पुत्रादि, धन-सम्पत्ति, शरीर की शैशव, यौवन, वृद्धत्वादि अवस्थाओ को पर मानने वाला, मोह का द्रोही, कामदेव की सैन्य को विजय करने का अवसर (चान्स) है । निस्पृह भाव में नरक की भीति और सुरलोक की प्रीति दोनो ही नही रहती । यह भवरीति--ससार के जन्म मरण, सुख दु खादि से रिक्त है ।

स्व-स्वरूपगत दृष्टि में रहा हुआ व्यक्ति इन्द्र पद की भी अभिलाषा नहीं रखता तो सामान्य मानव ऐश्वर्यादि की चाह उसे नहीं होती । उसके मन में इन सबके प्रति कोई उत्साह नही रहता ।

दुर्बुद्धि जन ही अनुपम आत्म सुख से परिभ्रष्ट होकर विषयों के प्रति अपने मन मे रति रखते है, जैसे शूकर निर्मलजल से भरे सरोवर को छोडकर कीचड में रमण करता है ।

योगीजन तो योग यम नियमादि अष्टाङ्ग साधन मे निरत रहते हैं । अथवा योग-चित्तवृत्ति निरोध से परमज्योतिर्मय आत्मानुभव का आस्वादन करने में लीन रहते है । और विषय भोगों को कुत्सित अन्न के सदृश घृणास्पद तथा अनित्य समझ कर त्याग देते है ।

सत आत्मा शुद्ध, स्वतन्त्र, वन्धनमुक्त, तेजस्वी, आनन्दकन्द, सदैव सुखमय, ऐसा अनुपम शक्ति सम्पन्न, आत्मज्ञान के सुधापूर्ण कुण्ड मे अत्यन्त रमण करके अनादिकाल के अज्ञान भ्रम से लगे हुये कर्म–कलक स्वरूप मल का प्रक्षालन कर ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना से निर्वाणस्थान–मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

स्व–स्वरूपावलम्वन के अतिरिक्त अन्य मुक्ति मार्ग है ही नहीं । मुक्ति प्राप्त करने का वीज 'सोह' का ध्यान है । स्वभावलीन आत्मा कमलदलवत् कर्मजल से भिन्न ऊँचा रहता है; कर्मखेद से निर्विन्न–शान्तिमय रहता है ।

जगत् मे जितने इन्द्रिय विषयजन्य सुख है वे सव दु खरूप हैं । उन्हें भोगने से शान्ति नहीं मिलती, प्राणी भले उनमे अनन्त ममता रखे, परन्तु क्षण दृष्ट नष्ट होने से दुःखप्रद हैं । जैसे कोई पथिक मरुभूमि मे चलता जल के अभाव मे खाली भोजन करके ही सुख का अनुभव करता है वैसी ही वासना पीड़ित व्यक्ति की स्थिति है । काम–भोग की रति पामा रोगी के खुजली के रोगी के खुजलाने के सदृश है जो खुजलाते समय तो सुखद लगती है; किन्तु बाद मे जलन की तीव्रता दुःखी बना देती हैं । वास्तव मे काम–भोग भुजङ्ग (सर्प) के समान दुःखदायी हैं । निश्चितरूप से सर्वथा हेय और उपादेय मुक्तिमार्ग मे एकान्त इच्छा करने योग्य भी नहीं है ।

हे आत्मन् ! उत्तम–आत्मस्वरूपमय श्रेष्ठ पद से पतन का कारण यही परभावरमण का प्रभाव है; तदपि बड़े आश्चर्य की बात है कि तू पुन· पुन· समझाने पर भी इन्हीं की ओर दौडता है । हे ज्ञानादिगुणों के राजा ! अधिक क्या कहें ?

यह शरीर पीडाओं का जन्मस्थान है, इस पर अपनत्व का मोहभाव क्यों कर रहे हो ? हे ज्ञाता ! यह तो मजबूत वेडी के समान तुम्हारे पाँवों मे वँधा हुआ है; इससे छूटने का अन्यमार्ग नहीं । एक आत्मज्ञान ही मार्ग है; अत अपने ज्ञानस्वरूप को ही भजो । स्मरण करो और इस शरीर से प्रीति तोडो । इसका उपाय है—ज्ञान का मुद्गर लेकर इसे तोड देना । 'हे आत्मन्' तुम वही लेकर इस मोह जजीर की कड़ियों को छिन्न–भिन्न कर

दो । दृढ़ सकल्प करो कि मैं तो अशरीरी हूँ, यह तन मेरा नहीं, मै तो ज्ञान-गुणमय कर्म से पृथक् हूँ । मै चेतनरूप हूँ और यह जडमय है । ससार कूप है । मेरा इसका कैसा स्नेह । ऐसा कभी विचार तक नहीं किया । मैं नित्य शाश्वत । यह अनित्य अशाश्वत । प्रत्यक्ष हो अपवित्र वस्तुओ का आकर और दिन-दिन क्षीण होने वाला है । ऐसा शरीर मुझे प्रिय क्यो लग रहा है ? अहो ! मोह से प्रेरित विडम्बना से घिरा हुआ, संसार और काल स्थिति की प्रेरणा से मैने आज तक यह भेदज्ञान जाना ही नहीं । न चित्त मे इसे धारण किया । अब जान लिया है तो अवश्य करूँगा ।

सर्व जड-पर हेय है, उपादेय तो मात्र आत्मा है । शुद्ध सम्यग्दृष्टि वाला सम्यक्रूपी आत्मा प्रकृति से विरक्तचित्त होता है, वह कर्म का कर्त्ता नहीं रहता । मिथ्यादृष्टि क्रूर बुद्धि ही इस पर-जड रग मे रगा हुआ, पर-कर्मकृत फल का भोक्ता है । भेद ज्ञान करने में विचक्षण व्यक्ति और सब त्याग कर स्व-पर का विवेक ही जागृत करते है यही जैनदर्शन की रहस्यपूर्ण साधना है । भेदज्ञानी जन पर-जड से मुक्त, ज्ञानादिगुणों से युक्त है वे स्वय को पर का भोक्ता न मानने से मुक्त है । ऐसे मुक्त भावयुत आत्मा का 'देवचन्द्र' ग्रन्थकार अथवा देवों में चन्द्रमा के समान साधक, ध्यान करते है ।

चंचल मनरूप समुद्र में से विकल्प तरगावलि उत्पन्न होती है उसमे से उठने वाले संकल्पमय काले बादल चेतन रूप चन्द्र को आच्छादित कर लेते है । जिससे ज्ञान चेतना चन्द्रिका अवरुद्ध हो जाती है । कर्म चेतना और कर्मफल चेतना के कारण आत्मा पर का कर्त्ता भोक्ता स्वय को ही मानने लगता है ।

आत्मा तो आत्मभाव से पूर्ण, ध्रुव, निश्चल चेतनायुक्त ज्ञानगुण का स्वामी है । वही ध्याता व ध्येय है, उसमें भेद नही, चिदाकार का ध्यान ही करना चाहिए, पर-जड की तो खोज करना ही त्याज्य है अर्थात् जड से सुख पाने का लक्ष्य परित्याग करके चेतन में रमण करने से ही अव्याबाध सुख का अनुभव होता है । अत चंचलता छोडकर स्थिरैक भाव से रहकर चित्त में उठने वाली अनङ्ग-कामदेव की तरङ्गों को न

उठने दो । ऐसा करने वाला ही सादि अनन्त और महान् आत्म–सुख का अनुभव करता हुआ अभय हो, श्रेष्ठ प्रधान मोक्षपद को प्राप्त करता है ।

परगुण–विषय कषायादि के अभिमुख ज्ञान वाला चेतन परवश हो जाता है । स्वगुण ज्ञानादि के अभिमुख रहने वाला आत्मगुणों मे लीन बना हुआ स्वतन्त्रता का अनुभव करता है ।

अत ज्ञान को स्थिर करने का उपाय है देह ममत्व का त्याग । जैसी प्रीति देहादि पर है, वैसी चेतनगुणों–ज्ञानादि पर हो जाय तो फिर बन्धन नहीं होता । वास्तव मे आत्मा अबन्ध भेदज्ञान से बनता है ।

भेदज्ञान का चिन्तन इस प्रकार करें—जडता स्वभाव वाले देहादि मेरे नही, मोहमदोन्मत्त जीव ही इन पर ममत्वभाव रखते है । मैने तो स्वरूप का भान कर लिया है; इससे ऐसे परद्रव्य—देहादि मेरे धन नहीं, मै इनका स्वामी नहीं हूँ, मै तो ज्ञानादि गुणो का स्वामी हूँ, ये ही अभग स्वरूप वाले मेरे सदैव सग रहते हैं । अतः अन्तरग कषायादि और बहिरग–देहादि जो पर हैं, उनका सग छोड़ कर इन्द्रियसुख प्राप्ति की परछाँई भी अपने ऊपर न पडने दूँगा । ऐसे दृढ़ सकल्प वाला हे चेतन ! तू बन जाय तो तुझे कर्मपुञ्ज का बन्धन कभी नहीं होगा ।

वस्तुत; आत्मा निष्क्रिय है, किन्तु जैसे निष्क्रिय लौह अयस्कान्तमणि–चुम्बक का सयोग पाकर सक्रिय हो जाता है—उस चुम्बक की ओर खिचता है, वैसे ही सकर्मा आत्मा जिसके कर्म रोग लगा हुआ है, वही सक्रिय बनता है, कर्ममुक्त आत्मा नहीं ।

आत्मा स्वरूपत· शुद्ध बुद्ध चिदानन्द निर्द्वन्द्व मुकुन्द—निष्पन्द प्रमोद–आनन्दकन्द, अनादिअनन्त निर्मल परब्रह्म पूर्ण परमज्योति, परम अगम, अक्रिय, महाशान्त–अविनाशी, अज, परमात्मा, सुजान, जिन, निरजन, अम्लान, सिद्ध भगवान् है, किन्तु कर्मसग से ज्ञान को भूलकर पुन पुनः कर्म की ही सगति करता हुआ कस्तूरीमृगवत् ससार अरण्यानी मे भ्रमण कर रहा है ।

जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, वह चेतन की धारा मे लीन रहकर स्वय को "कर्म व कर्म के कार्य से पृथक् हूँ, स्याद्वाद भावयुक्त सदा महान् हूँ ।" इस प्रकार ज्ञानदृष्टि और उत्तम निर्दोष चारित्रयुक्त

आत्मस्वरूप की एकता करता हुआ कर्मबल का शोषण कर मुक्त बन जाता है । किसी–किसी को सन्देह होता है कि एक आत्मद्रव्य मे तीन गुण ज्ञान–दर्शन–चारित्र कैसे रहते है ? उसका समाधान निम्न प्रकार से समझना चाहिए ।

जैसे सुवर्ण मे पीतत्व, स्निग्धत्व और गुरुत्व निरन्तर रहते है । अग्नि मे दहनत्व, पचनत्व, तपनत्व ये तीनो विशेषताये सदा रहती है । जल मे शीतलता, द्रवता, निर्मलता ये तीन स्वाभाविक गुण है, जो सदा रहते है । उसी प्रकार आत्मा मे भी तीनों गुण—ज्ञान दर्शन, चारित्र सदैव रहते है । निश्चय से उपर्युक्त तीन द्रव्यो—सुवर्ण, अग्नि और जल मे उनके कथित गुण उनमे अभेद–तद्रूप से नित्य विद्यमान रहते है, वैसे ही आत्मा के तीन गुण सदैव उसी मे है, कभी पृथक् नही हो सकते ।

व्यवहारनय की दृष्टि से श्रुतादि रूप मे पृथक् की कल्पना की जाती है । अभ्यास द्वारा प्राप्त होते है ऐसी मान्यता की जाती है। किन्तु वास्तव मे चेतन की शक्ति रूप मे चेतन मे ही है, अभ्यास से प्रकट होते है । ये गुण–संवेदनादि अन्य द्रव्य मे है ही नही अत जड को कितना ही अभ्यास करावे तब भी उसमे से किसी भी प्रयत्न द्वारा प्रकट नही किये जा सकते ।

जब आत्मा अज्ञान दशा मे रहता है तब मोहकर्म काम–भोग का लालच देकर अपने वश मे कर लेता है और आत्मा काम–भोग के लिए सदा विकल रहता है । भेदज्ञान—जीव और जड को पृथक् मानकर ज्ञान, मोह के प्रभाव को दूर कर देता है । इस प्रकार भेदज्ञान निर्दोष अमल अखण्ड धारावाही रूप से सद्बुद्धि आत्मा करता है यही ध्यान कर्म के जाल को नष्ट करने मे प्रबल कारण है । इसे करने पर आत्मा अकल सकल अन्य से सर्वथा भिन्न, जगत् मे रहा हुआ भी जल मे कमलवत् निर्लेप रहता है ।

एकआत्मबुद्धि मुक्ति और देहात्म एकत्वबुद्धि संसार, भव भ्रमण बढाने वाली है अत देहबुद्धि त्याग कर स्वआत्मगुण–ज्ञानादि से प्रेम करना चाहिए । सुख–दुख दोनो पुण्य व पापरूप पुद्गलस्कन्ध है, इन पर आत्म बुद्धि रखना ही कर्मबन्ध है ।

यहाँ जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि—

"दुष्ट भाव पाप का हेतु और अच्छा भाव पुण्य का हेतु है" अत दोनों प्रकार के कर्मबन्धन के हेतु पृथक् पृथक् होते है । पाप के उदय से असाता व पुण्य के उदय से साता का अनुभव होता है, दोनों मे क्षार व मिष्ठ के समान स्वादभेद है । पाप कुगति और पुण्य सद्गति का दाता है । इनमे ये प्रत्यक्ष ही भेद दृष्टिगोचर होता है । पाप सभी को अनिष्ट और पुण्य सभी को इष्ट लगता है । संक्लेश शुद्धि निर्मल परिणामों से इनका भेद स्पष्ट दिखता है । अत पाप हेय और पुण्य तो उपादेय ही मानिये । इसमे क्या दोष है ?

समाधान—पुण्य पाप दोनों कर्मजाल रूप है, हेतु रस गति फल मे वस्तुत भेद नहीं है; जैसे कम्परोग पाप फल और अकम्परोग पुण्यफल है किन्तु हैं दोनों ही दु:खरूप और विनाशी । मिथ्यादृष्टि जीव को ही पुण्य पर रुचि भाव और पाप पर अरुचि भाव उत्पन्न होता है यह उसकी विशेषता है । उसकी ऐसी बुद्धि रहती है । सम्यग् दृष्टि जीव तो दोनों को जड़ रूप और अज्ञानरूप मानकर आत्मा को इनसे पृथक् देखता है । वह दोनों को ही हेय और मात्र शुद्ध आत्मस्वरूप को उपादेय मानता है ।

पाप से विमुख और पुण्य के अभिमुख रहने वाला सुगति की आकाक्षा रखकर कुगति से भयभीत रहकर 'मै कर्त्ता हूँ' 'मैंने अमुक कार्य किया' इत्यादि अहं बुद्धि से मदोन्मत्त रहता हुआ विपरीत रीति ससार भ्रमण की वृद्धि करता है । वह स्व आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचान कर भ्रम भाव मन मे रखता है । देह धनादि को अपना मानता हुआ कर्म का बन्ध करता है । ऐहिक और पारलौकिक मात्र पौद्गलिक–भौतिक सुख की ही आकाक्षा रखने वाला मिथ्यादृष्टि है ।

ऐसा मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञान से अभिज्ञ होने के कारण पर–जड वस्तुओं मे निजत्व भाव रखता हुआ उसे ही सर्वस्व मानने के भ्रम मे रहता है; कर्म का कहर–गजब–आपत्ति उसी पर आती है वही कर्मबन्ध करता है । चित्त मे वक्रता रखता हुआ सुख की आकाक्षा से मत्त रकवत् नि:शक ससार रूपी नगर मे भोग रूप अन्नादि की याचना करता फिरता है । इन काम भोगादि की जो हानि के दुर्गति के स्थान है, अशुचि–जगत्

को वमन की हुयी वस्तु के समान हेय घृणास्पद है, उनसे उसे ग्लानि नही होती, जैसे विष खाये हुए व्यक्ति को निम्ब भी मधुर लगता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि को भोग सुखदायी लगते हैं । वह लोटन कबूतर के समान उलट-उलट कर उलटी चाल से उडता है, अपने मिथ्यात्व के कारण सुलटी चाल नही चलता अर्थात् सरलभाव के अभाव मे उसकी गति मुक्ति की ओर नही होती । पुन पुन भोगो की वाञ्छा करने के कारण संसरण ही करता रहता है ।

मिथ्यादृष्टि मोहगत जीव को यह भी भान नही रहता कि जीवन अञ्जलिगत नीरवत् क्षण-क्षण सदा कम हो रहा है, यह शरीर और मानसिक शक्ति-स्मरण शक्ति भी क्षण-क्षण क्षीण होते जा रहे है । काल के स्वभाव का कभी विचार तक नही आता कि यह कभी मृत्यु रूप में आयगा । दूर-दूर की सोचता रहता है, माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पति, पत्नी के संग में सुख की कल्पना मे लीन, धर्म का रहस्य न जानने के कारण भ्रम से घिरा हुआ, ज्ञानहीन क्रिया करता हुआ पुण्य की रटना लगाये रहता है। "सारे भौतिक सुख क्षणिक और परिणाम-फल में दु खप्रद है" ऐसा बार-बार सुनता हुआ भी, स्वाभिमुख नही बनता । पर जडादि के ही सुख को सम्मुख रखता हुआ सदा दु ख मे अटता-भ्रमण करता रहता है ।

पौद्गलिक सुखो की-विषयसुखो की प्राप्ति के लिये वह बडे-बडे ग्रन्थो का अध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त करके लोकरञ्जनार्थ सुन्दर शैली मे प्रवचन कर यश भागी तो बनता है; पर मुद्गशैलपाषाणवत् स्वयं उस ज्ञान से आर्द्र नही बनता, वह आत्मज्ञान रहित ही रह जाता है । मौन धारण करता है, योगसाधना करता है, अश्व व खर-गदहे के समान व्रत नियमादि के बन्धन मे बँधकर कष्ट सहता है । विविध प्रकार के आसन भी सरकस के अभिनेता अभिनेत्री के समान करता है । परलोक के सुखो की अभिलाषा मे इस लोक सुखो का त्याग कर देता है । प्राणायाम की साधना से पवन को साध लेता है, बडा हर्षित होता है । यह सब क्रियाएँ बिना आत्मज्ञान के करता हुआ रहने से उसका मिथ्यात्व नही हटता क्योकि लक्ष्य मुक्ति का नही, सांसारिक भोगो का है । अत वास्तव में

मिथ्यात्व बुद्धि पापमय-स्तेनवृत्ति है, जो पर-जड़ की वस्तु का स्तेयकर्म-चोरी करती है । किन्तु चौरवत् वहुत अधिक चोरी की सम्पत्ति एकत्र करता हुआ स्वय के सताप की वृद्धि करके भी अन्त मे एक दिन दण्ड का दुःख का भागी बनता है। अतः पर वस्तु सदा हेय और आत्मगुण ही उपादेय है । अहो ! कितना आश्चर्य है !! पर वस्तु भोगादि की प्राप्ति के लिए अज्ञानीजन कौनसा हीन, कौनसा अत्यन्त कष्टकर आचरण नहीं करते । किन्तु ये सब परभाव हैं, मेरे नहीं ! ऐसी सुबुद्धि उन्हें नहीं होती ।

वचन, युक्तियाँ, चित्त, शरीर की कान्ति, मन की स्थिति, सकल्प विकल्पादि, हित अहित, रति अरति, अन्तःपुर-नगर श्रेष्ठ भोजन वस्त्र आदि सब वस्तुये जो नयनगोचर हैं, और पुण्य-पापादि गायन नृत्यादि स्त्रीपुरुष नपुसक वेद, इत्यादि सभी तो हेय हैं, इनमे नित्य सयोग वियोग होता रहता है, ये आत्मा के स्वरूप नहीं, पुद्गल के रूप है जो बनते बिगड़ते रहते हैं, इनमे ममत्व ही आत्मा के भ्रमण का मुख्य कारण है । आत्मा तो सदैव अक्षर ज्ञानादि गुण युक्तअपने ही गुणों का स्वामी है, वही मात्र उपादेय है ।

पुण्य व पाप दोनो ही पुद्गल दल है, गुड़, खल, मिट्टी का ढेला और मणिरत्न सब जड़-पुद्गल का व्यक्ति भेद है । अर्थात् पुद्गल ही विविध रूप मे दिख रहे हैं, अत पुण्य पाप दोनों का अवरोध करने से स्व का बोध होता है, वही पाने पर समस्त व्याधियाँ नष्ट होकर समाधि होती हैं, रागद्वेष रूप दोष दूर हो जाते हैं । जैसे ईन्धन का अभाव होने पर अग्नि स्वय बुझ जाती है, बीज के अभाव मे वृक्ष नहीं बनता है, मूल बीज नष्ट हो जाने पर वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार भाव कर्म-रागद्वेष-बुद्धि का नाश हो जाने पर ज्ञान चेतना प्रकाशित हो जाती है और आत्मा श्रेष्ठपद-सादि अनन्त स्थिति वाले सिद्धपद को वरण कर लेता है ।

हे आत्मन् ! अनादिकालीन कर्म उपाधि के बन्धन के कारण ही तुम्हारी प्रीति पर-जडादि पदार्थों से लग रही है, और वस्त्र पर नीलरगवत् जीव पर रागद्वेष का रग लगा हुआ है इसीलिये तुम जड की

सम्पत्ति अपनी स्थापन कर दूसरे की पूँजी दबाकर रखने की चेष्टा कर रहे हो तो यह तो स्पष्ट ही चौर्यकर्म है जो तुम्हारे करने योग्य नहीं है और इसी कारण तुम ब्रह्मस्वरूप होकर भी जड संग से कर्म के कर्त्ता बन गये हो, ऐसी मूर्खता क्या त्यागने योग्य नही है ?

जैसे रेशम का कीडा या मकडी अपने ही मुँह से निकली हुयी लाल या रेशे रूप जाल में बँध जाते है, वैसे ही आत्मा भी अपने भाव से बँध जाता है ।

नित्य आत्मा को ईश्वरकृत मानने वाले ज्ञानविहीन मत-क्रियावाद के मत में मत्त बने हुये, ईश्वर की इच्छा से आत्मा का भवभ्रमण-स्वर्ग नरक तिर्यञ्च मनुष्यगति में गमनागमन कहते है, विविध योनियों मे उत्पत्ति स्थिति और प्रलय-मरण मानते है । उन्हे सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र के उपासक कहते है कि ईश्वरकृत और ईश्वरेच्छा से भ्रमण न करके आत्मा स्वयं ही कृत कर्म के अनुसार सुगति कुगति मे भ्रमण करता है, कृत कर्म का भोक्ता भी आत्मा ही है । अन्यकृत अन्य नही भोगता,यह तो प्रत्यक्ष ही देखते है । वस्तुत आत्मज्ञान मे जीव अज्ञानी बना हुआ, विविध भाँति के कार्य करने से कर्म बाँधता हुआ, कर्मफल भोगता है । सप्तधातुमय शरीर के संग बंधा हुआ है ।

शंका—एक ही कार्य को अनेक कर्त्ता करते और अनेक कार्यो को एक ही कर्त्ता करते दिखलाई पडते है । ऐसे ही जीव भी स्व पर आदि आदि कार्यो का कर्त्ता है और जीव का कर्त्ता ईश्वर है । ऐसी मान्यता रखने में क्या दोष है ? और जीव भी पर का कर्त्ता माना जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—ईश्वरकर्तृत्वादि मान्यताओं का निराकरण युक्ति आदिपूर्वक पहले कर चुके है । यहाँ तो जीव को पर का कर्त्ता मानने का प्रश्न विचारणीय है । पर का कर्त्ता जीव को मानने पर तो आत्मा और जड का कभी विभेद हो नही हो सकेगा, न जीव मुक्त होने योग्य सिद्ध हो सकेगा । और यह किसी भी आस्तिक दर्शन को अभीष्ट नही,

अत· आत्मा स्वस्वरूप का ही कर्त्ता है, पर रूप जडादि का नहीं । हाँ ! जब तक आत्मा को स्वरूप का भान–सम्यग्दर्शन द्वारा नहीं होता तब तक वह स्वय को पर का कर्त्ता मानता रहता है । वास्तव मे कर्म, कर्म का कर्त्ता और आत्मा आत्मगुणों का कर्त्ता है । सभी पदार्थ स्व स्व कार्य के कर्त्ता है ।

यह चेतन अज्ञान दशा मे किये गये कर्म के कारण ही दुर्गति मे पडता है; जैसे अन्धा व्यक्ति या उन्मत्त, विष्ठा से भरे गटर मे गिर जाता है ।

आत्मज्ञान ही मुक्ति का कारण है, उसी का ध्यान मुक्ति का हेतु है । आत्मज्ञान के बिना मुक्ति कभी नहीं हो सकती । दान, दया, तप, जप, उपशम, यम–व्रत, इन्द्रियदमन आदि ये क्रियाएँ तुच्छ फल वाली है अत आत्मज्ञान व आत्माभिमुख मुक्ति लक्ष्य से की जाने वाली क्रिया, दोनों का एकत्व करके मन वचन काया के योगों का निरोध करके सिद्धि स्थान–मुक्ति प्राप्त होती है, यही आत्मज्ञान निर्वाण का स्थान है । केवलज्ञान का हेतु है । अन्य सभी आत्म ज्ञान बिना के ज्ञान–ध्यानादि क्रियाएँ वाणी मे दोष वाले कहते है । दोष मुक्त वचन वीतराग के ही होते हैं ।

आत्मस्वरूप की भावना इस प्रकार की जाती है—

धर्मास्ति एव अधर्मास्तिकाय नामक दो द्रव्य एक, एक और असख्यात प्रदेशी हैं । काल औपचारिक द्रव्य अनन्त समयात्मक, और आकाश भी अनन्त प्रदेशात्मक है । जीव और पुद्गल अनन्त है । एक एक द्रव्य मे अनन्त अनन्त गुण हैं । एक एक गुण के अनन्त पर्यायों की परिणति होती रहती है । षड्द्रव्यों मे ज्ञाता एक जीवद्रव्य है जो सभी ज्ञेय को जानने की शक्ति वाला है, अन्य सभी ५ द्रव्य अचेतन हैं । मै चेतन द्रव्य जीव हूँ, मैं अनादि, अनन्त, निर्द्वन्द्व, महानन्दकन्द, महोदयवान् हूँ । आत्मा का वास्तविक स्वरूप चिन्मय है, जो सदैव वैसा ही रहता है । मै भी आत्मा हूँ पर से मेरा क्या लेना देना ?

नवतत्त्व के विकल्प तीनों योगों—मन, वचन, काया के सकल्प, इस आत्मा में रहते है, इनमें योगों में रहते हुए भी आत्मा नित्य इनसे अस्पृष्ट रहता है, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो से वेष्टित होने पर भी आत्मा चेतना का स्वामी स्व स्वरूप में ही रहता है । यह सुमति का स्वामी है, इसमें कुमति का अंश भी नही, अपने ही ज्ञानादि धन मे मग्न रहता है । परम अखण्ड ज्योति नित्य सद्रूप है । ऐसा जिनेन्द्र कथित आत्म स्वरूप ही देवचन्द्र ग्रन्थकार को इष्ट है । इसी तत्त्व को जैनशास्त्रों में नित्य अनित्य एक अनेक, सद् असद् आदि नयों से बतलाया है, आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म, स्थूलातिस्थूल, अरूपी, अगाध कहा गया है । लोकालोक में तीन कालवर्ती होने वाले समस्त द्रव्यों के उत्पाद व्यय ध्रौव्य को ज्ञान से देखने जानने की शक्ति इस आत्म तत्त्व में रही हुयी है । सकल विश्व उस ज्योति में समाविष्ट है । ऐसा परमात्म स्वरूप आत्मा उक्त माहात्म्य को धारण करने वाला है । वही परम आनन्दकन्द, देवचन्द्र ने भी जान लिया है ।

यद्यपि जीव अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है, किन्तु सम्यक् ज्ञान दर्शन युक्त सम्यक्त्वीजीव के बन्ध नहीं होता, क्योंकि वह वैराग्य भावयुक्त है, बन्ध का कारण आसक्ति भाव है, अत ज्ञाता अबन्धक रहता है ।

शंका—आपने ज्ञाता को काम-भोग, सुख-दुखादि भोगते हुए भी अबन्धक कहा यह हमारे समझ मे नही आता, ज्ञाता को पूर्ण अबन्धक मान लेने पर तो सारा व्यवहार जो मुनि, आर्याएँ श्रावक-श्राविकाएँ जो भी व्रत, नियम, तप, जप, इन्द्रियदमन, दानशील, दयापालन आदि करते है, वे सब निष्फल बेकार कही जायेगी । और बेकार होने से ये सब व्यावहारिक क्रियाएँ अत्यन्त कठिन होने के कारण साधकजन छोड देंगे । इस प्रकार तो चर्तुविध सङ्घ का ही लोप हो जायगा । फिर तो सभी लोग प्रमाद सहित होकर निष्क्रिय बन बैठेंगे, जबकि जिनागम ज्ञानयुक्त पुरुषार्थ द्वारा ही मुक्ति की प्राप्ति मानता है फिर अकेला ज्ञान मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ?

समाधान—तुम्हारी शंका उचित है, हमने धार्मिक—क्रिया त्याग

तपादि का निषेध कब किया ? वह तो आश्रव को—नवीन कर्मो के आगमन को रोकने और सत्तागत कर्मो को क्षय करने के लिये आवश्यक ही है। किन्तु वे ज्ञानपूर्वक हों, तभी मोक्षफल दायिका है, अतः ज्ञान की प्रधानता है। हम तो क्षायिक सम्यक्त्वी की बात कर रहे हैं।

जैसे विषवैद्य जाङ्गुली विष के विकार को जानकर उसका उपचार करके उसे दूर कर देता है। वह स्वय विष को चूसता है, परन्तु वह मूर्च्छित नहीं होता है। जैसे नाग विषहारक मन्त्र का ज्ञाता अपना अङ्ग नाग के मुख मे डाल देने पर भी स्वय अडकित–दश रहित रहकर नाग से युद्ध करता है; वैसे ही ज्ञाताजन पूर्व कर्म सयोग से भोग तो भोगते हैं; किन्तु अलिप्त भाव मे वर्तने से उसे बन्ध नहीं होता। चक्रवर्ती भरत, श्रीकृष्ण और श्रेणिक आदि ऐसे ही आत्मा थे। अनासक्त भाव से रहने से भरत को आदर्श भवन मे अनित्य भावना करते हुये केवलज्ञान हो गया। श्रीकृष्ण व श्रेणिक आदि ने तीर्थंकर नाम कर्म बन्ध किया, एकावतारी बने, यह ज्ञान का ही प्रताप था।

एक और दृष्टान्त से भी इसे समझाते है। जैसे किसी वन मे दावानल लगा। वह फैलते हुए अपनी ज्वालाओं से ग्राम, नगर, वन, उपवन, गिरि आदि को भस्म करने लगा। तब किसी मन्त्र–सिद्धिजन ने मन्त्र द्वारा अग्नि शक्ति को बाँधकर उसे बुझा दिया, फिर सारा ताप मिट जाता है। और इस मन्त्र को जानने वाला स्वय को अभिमन्त्रित कर अग्नि की दहन तापन शक्ति से अभिभूत न होकर उसमे उछलते कूदते इधर उधर घूमते नृत्य करते है फिर भी वे जलते नहीं, वैसे ही ज्ञाता अपनी बोधशक्ति से बन्ध की शक्ति को अवरुद्ध करके पूर्वकृत निकाचित कर्म को भोगता हुआ भी अबन्ध रहता है।

प्रश्न—फिर भी शकाशील व्यक्ति कहता है—आपने कहा सो सच है; फिर भी मेरे मन का सन्देह दूर नहीं हो रहा है ! मूढ़जन के समान सम्यक्त्वी भी भोगरीति से भोग भोगता हुआ 'अबन्ध है', आपकी यह बात कैसे मान ले ? सर्वथा अबन्ध मानना न शास्त्रसम्मत है न युक्तिसङ्गत ! उपर्युक्त दृष्टान्त व्यावहारिक है; 'मन्त्रशक्ति युक्त पुरुष ऐसा कर सकते हैं' यह सत्य है किन्तु आत्मा जब तक ससारवर्ती है तब तक

सर्वथा अवन्धक होता नहीं, वीतराग के भी एक सातावेदनीय का वन्ध तो माना ही है फिर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सर्वथा अवन्धक रहता है। यह कैसे माना जाय ? अत पुन स्पष्ट करके समझाने की कृपा करिये ?

समाधान—जैसे कोई सद्गृहस्थ या ब्राह्मण वणिक् किसी राजा की सेवा में आजीविकार्थ सेवक वनकर रहता है, राजा की आज्ञा हुयी कि मद्य लाओ ? हमे व हमारे परिजन मित्रादि को भी पिलाओ। तब वह आज्ञा पालन के लिए मद्य लाता है, चषक प्याले आदि पात्रों मे भर-भर कर नृपति आदि सबको देता है, स्वय को तो मद्य गन्ध भी रुचिकर नहीं लगती, किन्तु परवश होने से राजाज्ञा का पालन करता है, वैसे ही पूर्वकृत कर्मवश सम्यक्त्वी जीव ज्ञाता होने पर भी निकाचित भोग्य-कर्म तो भोगता है, किन्तु अरुचिपूर्वक भोगने से निरासक्त भाव के कारण अभिनव कर्म का वन्ध नहीं होता।

निश्चयनय से आत्मा सिद्ध के समान है क्योंकि जिनेश्वर भगवान् ने सभी द्रव्यों को स्व-स्वभावगत माना है, अत आत्मा स्वरूप से कर्त्ता स्वभाव का ही है, परभाव-कर्मादि का नहीं।

सर्वद्रव्य स्वभाव से रहते हुये स्व स्व कार्य करते है, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य नहीं करता, किन्तु अनादिकालीन कर्म सम्बन्ध के कारण मिथ्यात्वबुद्धिवश आत्मा मूढ़ बना हुआ सदा पर-भावलीन उन्हीं विषयकषायादि मे जो परभाव है, अहंबुद्धि ममत्वबुद्धि रखता है। कर्म के भ्रम में पड़ा हुआ आत्मा इस शरीर पर प्रेम बढ़ाता है। जब आत्मज्ञान होता है तब शरीरादि पर-वस्तुओं से प्रेम हट जाता है और यह अनैतिक कार्य त्याग देता है। रागद्वेष को दूर कर सदैव पर-वस्तुओं पर निर्ममत्व बना रहता है। अपना स्वरूप ज्ञानमय जान कर मुनिजन आत्म रीति-ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हुये आत्मा का दर्शन करते है।

इस प्रकार भेद-ज्ञान का अवलम्बन कर स्व-पर का भेद करके परभाव का त्याग कर उन पर से प्रेम हटा लेता है। अखण्ड अनन्त ज्ञानवान् स्वातम में चित्त स्थिर कर और सबको भूल जाता है। ज्ञान के वल से कर्म को उखाडकर प्रवल माया की जञ्जीर को तोड मन को उधर से हटा ज्ञान के प्रसार से भविष्य के विकारों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त

कर लेता है यह सब भेद-ज्ञान का अनुपम प्रताप है; भेदज्ञान की समानता कोई नही कर सकता ।

अष्टकर्म वन का दहन कर आत्मा सिद्ध बनता है । उन सिद्धो के समान अपने आत्म स्वरूप को देखने वाले है : उन्हे 'देवचन्द्र' नमस्कार करता है ।

आत्मा की मुक्ति क्रमश इस प्रकार होती है—

प्रथम ग्रन्थि भेद—रागद्वेष की गॉठ खुलना रूप कार्य होता है । आत्मा मे उपशम भाव आ जाता है । फिर कषायों—अनन्तानुवन्धी का क्षय होने से और मिथ्यात्व का सर्वथा नाश हो जाने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है । कषाय भाव को कम करता हुआ गुणस्थानों की सोपान पक्ति उल्लघन करता हुआ आठवे गुणस्थान मे क्षपक श्रेणी से ऊपर आरोहण कर सूक्ष्म सम्पराय-कषाय को नष्टकर मोह का सर्वथा क्षय नाश और अन्य तीन—ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय का भी जड़ से सर्वथा नाश कर आत्मा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है । ज्ञानादि तीन गुणों का स्वामी आत्मा इस प्रकार देवचन्द्र—अरिहन्त पद प्राप्त कर ध्यान, ध्याता और ध्येय के भेद को मूल-जड से नष्ट कर देता है । पुनः सूक्ष्मक्रिया को भी ध्यान के द्वारा नष्ट कर अयोगी पूर्णज्ञानस्वरूप बन अपने अर्थ—घन निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है । वहाँ आठों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं, आठ गुण प्रकट होकर आत्मा को महानन्द, जो उसका अनादिकाल का साथी है वह प्राप्त हो जाता है । वहाँ मुक्ति स्थान मे लोकरीति, हार, जीत, भय, शत्रु, मित्र, प्रीति, द्वेष, आदि सारे कार्य कुछ भी नहीं है । वहाँ आत्मा अयोगी, अभोगी, अवेदी, अछेदी, अलेशी, मात्र आत्म स्वरूप से युक्त स्वभाव का वेदन करने वाला रह जाता है । वहाँ आत्मा पूर्ण शुद्ध रूप बनता है । जब क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है तब आत्मा मे फिर कर्म का रंच मात्र का प्रपञ्च नहीं रहता, भोगादि से अत्यन्त अरुचि बढ़ जाती है । वञ्चक स्वभाव, जो आत्मगुणों को भुलाकर परभाव मे रमण कराता है उसे खेचकर निकाल देता है । शुद्ध स्वभावी बन जाता है । परभाव समुद्र मे चिरकाल से बार-बार शीघ्र रागद्वेष भँवर मे डूबने का चिर कालिक स्वभाव नष्ट कर देता है । ज्ञान

के प्रकृष्ट किरण दीप्त कर अज्ञान-तिमिर का नाश कर देता है । आठ कर्मों के मल को साफ करके आत्मा के आठ गुण वरण कर लेता है । ऐसे परमज्योतिर्मय, सदाकाल जयवन्त रहने वाला, आत्मा अज्ञान तिमिर को नष्ट करने के लिये सूर्य समान है । यह शुद्ध स्वरूप ही ध्येय है ।

कर्त्ता भोक्ता रूप अभिमान के विचारों का भार उतार कर स्थिर भाव प्राप्त कर लेता है । आत्म गुणो का घात करने वाले घाती-कर्मो के बध को तोड डालता है, अमन्द आनन्दकन्द हर्ष के समूह को प्राप्त कर लेता है । फिर शुद्ध, शान्त, अनन्त, अहत—जिसे दूसरा नाश न कर सके अथवा त्रुटिरहित पूर्ण, विचित्रवृत्ति ससारी जीव द्वारा अननुभूत, परज्योति, सत्य, नित्य, सत् रूप रहता है । सर्व भेय अभेय ज्ञेय द्वारा हेय कर-त्याग कर शुद्ध बुद्ध ब्रह्म स्वरूप मेरा आत्मा सदा काल रहा हुआ है । यह आत्म भावना करने से मुक्ति की दशा का अनुभव होने लगता है । यही मुक्ति का मार्ग है । वैराग्य का सौभाग्य उसे ही प्राप्त होता है जो रत्नत्रयी—ज्ञान दर्शन चारित्र है उन्ही के स्वरूप आत्मा का संवेदन अनुभव करके मोह का उच्छेद करने की प्रणाली ग्रहण कर लेता है । आत्मज्ञान की कला जानने के लिये निर्मल बुद्धि से संवर—सयममय बन जाता है । वह शरीर धारणार्थ और कर्म के उदय से जो सुखदु खादि होते है, या मन वचन काया की शुभ प्रवृत्ति होती है, वह भी कर्मोदय से होती है ।

'मै कर्म का कर्त्ता भोक्ता हूँ' ऐसा अज्ञान जितने काल तक मुझे रहा उतना काल शुद्धात्म का अनुभव न होने से मै अज्ञान का भवन बना रहा । अब सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव के सरस वचनामृत का पान कर शान्त रस का अनुभव कर रहा हूँ । इसी वचन सुधा के चिरकाल पान करने से अनेक आत्मा सुस्थित हो सुधृति धारण कर श्रेष्ठ अजर अमर परब्रह्मपद को प्राप्त कर चुके है ।

वस्तुत आत्म ज्ञान के अभाव मे स्वयं को पर का कर्त्ता-भोक्ता मानता रहता है । एक आत्मा के ज्ञान बिना भव भ्रमण करता है । आत्मा का वास्तविक स्वरूप जिनवचन से जान लेने पर अकर्त्ता अभोक्ता भाव उदित होता है । ये रागद्वेष कर्मोदय के कारण से होते है, "ये मेरी

सम्पत्ति नहीं, मै इनका स्वामी नहीं हूँ" ऐसा भाव चित्त मे धारण करने वाला साधक स्वय को इन से भिन्न मानता हुआ रहे तो वह ससार मे भ्रमण नहीं करता। एक दो भव में अवश्य मुक्त हो जाता है।

जव तक अज्ञानजन्य गाढ़ अन्धकार रहा मैं कर्मवन्ध मे निमित्त वनता रहा, तव तक विभाव ही इष्ट रहे जिससे रागद्वेष की रेखा पर एकीभाव की एकरूप की वुद्धि रही। अव गिरिनदी के उपल के समान चिरकाल से जल के प्रवाह मे टक्करें खाते-खाते उपल जैसे गोल वन जाता है वैसे मैने भी त्रिकरण से भेदज्ञान प्राप्त कर लिया है। तव मैने पर-जड़ की रीति त्याग दी और स्वात्म-पूर्ण ब्रह्म से अव मेरी विच्युति व विकृति नहीं रही, अपने ज्ञानादि गुणों को वरण करने से ध्रुव निश्चल वन गया हूँ। ऐसा सकल्प करने से शीघ्र मुक्त होता है।

अहो! मै अनादि काल से अज्ञान निद्रा मे लीन सुप्तावस्था मे पर जड़ वस्तुओं का ही चिन्तन इच्छा और भोग करता रहा। किसी शुभ कर्म के उदय से जाग्रत होकर तत्वज्ञान भी पाया, किन्तु जैसे दरिद्र को सम्पत्ति मिल जाने पर वह अहकारी वन जाता है; वैसे मुझे भी अहकार हो गया कि मै ज्ञानी वन गया हूँ। उसी अहंभाव के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व बुद्धि का भ्रम हो गया और ज्ञान असद् बन गया। शुद्ध आत्मा का विचार नहीं किया।

आत्म ज्ञान अत्यन्त गहन विषय है। आत्मा विराट् और अनहद किन्तु अस्पृष्ट, स्पृष्ट, निरन्तर स्पृष्ट रूप से वाह्यात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा रूप मे है। आत्म स्वरूप की विभूति अनन्त और शान्त है, वह प्रकट हो जाने पर जिसकी जड पुद्गलपदार्थों से प्रीति नष्ट हो जाती है, उसे ही स्याद्वाद द्वारा स्वानुभूति का आस्वादन कर आनन्द होता है। वह ज्ञानादि अगण्य सम्पत्ति के महाभोग मे लीन हो जाता है। वह बुद्धिनिधान निर्वाण स्थान सम्प्राप्त करने को सदा सावधान-अप्रमत्त हो जाता है ऐसा ही अप्रमत्तभाव हमारा इष्ट है।

आत्मज्ञान के बिना महाव्रत पालन, तप करना, आतापना लेना, यम नियम आसन प्राणायामादि योग साधना का प्रबल अभ्यास करना, क्षुधा, तृषा शीत ताप भूमिशयन अनुकूल प्रतिकूलादि बाईस परिषहो मे भी

अचल रहना, इत्यादि सर्व साधनाएँ निष्फल निर्नायक सैन्यवत् (मुक्ति फल की अपेक्षा) रहती है । एक आत्मा के जान लेने पर सब जान लिया जाता है—"जे एगं जाणइ, से सव्व जाणइ" ऐसा आगम वाक्य है । अत भेदज्ञानयुक्त आत्म ज्ञान से ही सफल होता है । अत निरन्तर अनन्त तेज पुञ्ज से शोभित, ज्ञानमय दृष्टि से अज्ञानमल रहित अचल अमल तत्त्व का ही ग्रहण करना चाहिये, इससे ससार कर्दम में रहता हुआ भी आत्मा कमलवत् निर्लेप रहता है । आत्मानुभव के सुख की तुलना मे इन्द्र चन्द्र चक्रवर्ती पद के सुख सुधा के सामने छार के स्वाद के समान है । "मैं परमात्मा स्वरूप हूँ" अर्थात् जैसा परमात्मा है, वही मेरा स्वरूप है । 'सोहं' के ध्यान से ही वह अगम परब्रह्मगम बनता है—जानने योग्य बनता है । अन्तरात्मा इसी मे लीन बनते है ।

सम्यग्दर्शन रहित बहिरात्मा, सारे आगमों का अभ्यास कर जगत मे अभिमान से विचरते है, स्वय को पण्डित कहलाने मे गौरव का अनुभव करते हुये विविध भाँति के वाद विवाद करते रहते है । वे अचेत हैं । उनका देहाध्यास—देहात्म एकत्व भाव छोडते नही । केवल पढ़ने लिखने से समझ लेने से कुछ नही होता । उसका पढ़ा हुआ पाठ (तोता रटन्त) मात्र ही रहता है ।

मै बहुत समय पर्यन्त अज्ञानी रहने से अपने रूप को ही भूल गया था, वह अब स्मरण में आ गया यह वीतराग की वाणी का ही प्रताप है, मैं भी हूँ तो संसार मे ही, किन्तु सबके-परभाव के मध्य रहता हुआ भी भव के जाल से मुक्त हो गया हूँ । मै सत्य ज्ञान चेतनावान् अत्यन्त उज्ज्वल सान्त अनन्त सज्ज्ञान मुझे मिल गया है । हे सज्जनो । आप भी उन ज्ञानबीज निरंजन अक्षय अनुपम स्याद्वादमय श्री जिनवचनों का वास्तविक रहस्य जानने का प्रयत्न करो ।

आत्मा से आत्मज्ञान को मथन करे तब भानु के प्रकाश के समान आत्मज्ञान की ज्योति प्रकट हो जाती है और क्षण क्षण बढ़ने लगती है । जैसे बाँसो का परस्पर घर्षण करने पर अग्नि प्रकटती है, वैसे ही आत्मज्ञान से ऐसी ज्योति प्रकट हो जाती है । इसी कारण आत्मज्ञानी आत्ममगन, देशविरति सुव्रती है, और महाव्रतधारी भी क्षपकश्रेणी पर

आरोहण करते मुक्ति सदन मे पहुँच जाते है । अतः आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य मुक्ति मार्ग नही है । सच्चे साधक तो आत्मपाठ ही पढ़ते है ।

आत्मा की सुप्त दशा जैसे रज्जु मे सर्प का भ्रम हो जाता है वैसे ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को देहबुद्धि रहती है वह शरीर पर ही आत्मबुद्धि रखता है । इससे उसका भ्रम बढ़ता ही रहता है ।

अज्ञान के चक्रव्यूह मे फँसा हुआ आत्मा मद्यपी के समान अन्य की स्त्री रूप जड वस्तुओं को पकड़ने दौड़ता है । भव-रागद्वेष की लौह बेडियो मे जकडा हुआ आत्मा अज्ञान निद्राधीन रहकर ज्ञानदृष्टि के तेज को दबा देता है । इससे परवस्तु पर, आत्म बुद्धि रखकर भयभीत हुआ स्वय को भी उन्हे अर्पित कर देता है, उन्हें ही परम मित्र मानता है । इस प्रकार अपने गुण प्राप्त किये बिना आत्मा अनन्त भव भ्रमण करते हुए स्वगुण को तिरोहित करता रहता है ।

ज्ञानचेतना की जाग्रत दशा

ज्ञानचेतना जाग्रत होने पर आत्मा की अपनी अनन्त शक्ति— "जिसमे लोकालोक समा सकते हैं" जाग्रत हो जाती है। इस आत्मा का स्वरूप जान लेने पर षड्द्रव्य के सभी भाव जान लेता है । क्योकि ये षड्द्रव्य आत्मा के अनुगामी कहलाते है क्योकि आत्मा ही मात्र चेतन द्रव्य है शेष तो अचेतन जड हैं । एक आत्मा के जाने बिना सर्वशास्त्रों की जानकारी केवल श्रम है । निःसत्व बुद्धि रहती है । अन्य शास्त्रों का अभ्यास तुष-खण्डनवत् निष्फल है । ज्ञानहीन क्रिया भी इसी प्रकार निष्फल है । उस आत्मज्ञान का अनुभव होने पर ससार का भय पलायन कर जाता है, आत्मा पर विश्वास और अनन्त प्रेम जाग उठता है । जैसे सूर्योदय होने पर सारा जगत् जगमगा उठता है, अन्धकार का नाश होने पर घटपटादि सभी पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगते हैं, उसी प्रकार आत्मज्ञान के तेज से रागद्वेष की ग्रन्थि टूट जाती है, अभिनव कर्म नहीं लगते और मुक्ति सम्मुख ही दिखने लग जाती है । ऐसा परमानन्दकन्द देवचन्द्र को सुखकर अर्थात् देवों मे चन्द्रवत् वीतराग देव जिससे अनन्त सुख का

अनुभव करते है । धर्मात्मा व्रतीजन और मुनीश्वर उसी का ध्यान करते है ।

आत्मा जब आत्मध्यानलीन रहता है, तब कर्मबन्ध रुक जाता है, क्योंकि उसे अन्य कुछ भी कल्पना नहीं उठती । अग्नि में ईन्धन न डाले तो स्वय बुझ जाती है । वैसे ही मन इन्द्रियादि रागद्वेष के अभाव मे विषय ग्रहण करत हुए भी आत्मा को बाँधने मे असमर्थ रहते है । अत परम सुख का स्थान आत्मगुणो में लीनता है, अन्य साधनाएँ व्यर्थ है । यही मुख्य निर्भयपद है और सब तो केवल जन-श्रुतियाँ है । यही शान्तरस और मुक्तिपथ है, इसे ही कर्म-वृक्ष को छेदने वाला कुठार समझो । यह आत्मा ही ज्ञानवान् भगवान् श्रेष्ठ ज्ञानादि रत्नत्रयगुणयुक्त है, इसे ही भजो, इसी में रमण करो, इसे ही जानने का प्रयत्न करो । किन्तु यह मार्ग सर्वमार्गों से दुर्गम है, विरले ही चलकर इष्ट स्थान पर पहुँचते है ।

हे ज्ञानिन् ! तुम स्वयं ही अज्ञान के हेतु बन हुये हो । इसी से भव में भ्रमण कर रहे हो ! पर के जड पुद्गलमय शरीरादि पदार्थो के प्रति कर्त्ता बुद्धि हो रही है । चित्त मे सुख सम्पत्ति पाने की तृष्णा लगी हुयी है । शुद्ध बुद्धि वाले मुनिजन आत्मा को जान उसी का ध्यान करते हुये निर्वाण प्राप्त करते है । यह आत्मा स्वय ही अपना रक्षक तब बनता है जब कि अपनी चेतनता-ज्ञान चेतना का अभिलाषी बनता है, अत ज्ञान चेतना में ही रमण करो ।

सम्यग्-दृष्टि जन भोगो का सयोग निकाचित कर्मवश मिलने पर भोगते तो है किन्तु गृहस्थ रहते हुये भी विरक्ति भाव है, आत्म भावना से भावित रहते हुये श्रेष्ठ आत्मज्ञान की कला की अर्चना-पूजा करते है । वे मोह कर्म की कारा को तोडकर निकल जाते है । संसार के सुखो से परिचय नही रखते । उनसे प्रसन्न नही होते । अपने हृदय में सम्यक् प्रकार से आत्म स्वरूप का ध्यान करते हुये कर्म के भ्रम को निश्चय ही नष्ट कर देते है ।

जिनके निकाचित भोग कम नही होते वे सर्वत्यागी बन जाते है । निरोगी व्यक्ति के समान वे कडवी औषधियो का काढा पीना निरर्थक

समझते है। आतुरता रहित चतुर व्यक्ति जैसे देह को नीरोग रखने के लिये कुपथ्य आहार विहार नहीं करते, वैसे ही वे त्यागीजन भी आत्मा को नीरोग रखने के लिये विषय कषायादि कुपथ्य का सेवन नहीं करते। दर्शन-मोह के अभाव मे चेतन अपने चिन्मयमूर्त्ति चेतन का सुख ही स्मरण रखते है और भोगों का सयोग होने पर भी नहीं भोगते। ऐसे साधुजन सदैव ज्ञान को ही चित्त मे धारण करते है।

अन्तर तत्व को—आत्मा को देख लेने पर सूर्योदय होने से जैसे समस्त वस्तु प्रकाशित हो जाती है वैसे ही स्वपर का स्वरूप आत्मज्ञानी के सम्मुख प्रकाशित हो जाता है। वह ससार मे रहते हुये भी जगत् की रीति-विषय भोग नहीं करते, त्याग देते हैं। अपने गुणों से उज्ज्वल बन जाते है। जब तक मोह की फेरी मे घुरता रहता है तभी तक भव के स्वप्न देखता हुआ उल्लसित होता रहता है। मोहनिद्रा से जागने पर तो अपनी यथार्थ ज्ञानमय स्थिति का भान हो जाता है। शुद्ध निरजन ध्रुव चेतनमय आत्मा स्वय मे ही समाविष्ट हो जाता है।

ऐसे आत्मज्ञान का जो अभ्यास नहीं करता वह कर्म के भ्रम को सदैव बढ़ाता रहता है, पॉचों इन्द्रियों के विषय प्रपच मे चित्त को फॅसा कर इन्हीं से प्रेमरस की अपार वृद्धि कर लेता है। अर्थात् विषय की असीम तृष्णा हो जाती है। उसके कर्म की उपाधि ही ललाट पर भाग्य मे लिखी रहती है, इस जगत् मे नव नव वेश-शरीर धारण कर सुख-दुःख भोगता रहता है। वही आत्मा जब आत्मज्ञान पा लेता है तब स्वरूप मे रहकर परम आनन्द रस की प्राप्ति मे असीम वृद्धि कर लेता है। क्योंकि आत्मज्ञान की ज्योति से ही ऐसा परम रस स्फुरित होता है जिसमे अदृश्य रसायन है सो सर्व दोषों को नष्ट कर देता है। लोकालोक का विलोकन करने वाला अमल निर्मल तेज स्वरूप है। हठयोगादि की क्रिया बिना ही उसकी साधना की जा सकती है। जिन्होने आत्मज्ञान के बल से ही प्रबल मोहदल के पटल को मूल से उखाड फेका, वे सम्पूर्ण विज्ञानवान् शान्त गुण पुञ्ज बन गये। ऐसे देवो मे चन्द्रवत् रत्नत्रयीमय आनन्द-कन्द श्री परमात्मदेव पर ही मेरी प्रतीति

प्रीति है, वही मेरा मन स्थिर हो गया है । ऐसा ग्रन्थकार श्रीमद् देवचन्द्र गणिवर्य महोदय कह रहे है ।

सम्यक्त्वी-आत्मा के लक्षण—जिसके हृदय में रागद्वेष-मोह नहीं, अपने स्वभाव में ही रमता है, स्वयं अनन्तज्ञानमय है । किसी पर-जड वस्तु पर प्रीति नही रखता, परमात्मस्वरूप का ध्यान करता है । आत्मा की सार सँभाल करता है वह शान्तरस में सराबोर रहने वाला सन्त है । टङ्कोत्कीर्ण अर्थात् सुडौल सुघटित रत्न के समान अभग ज्योति वाला, परब्रह्म के समान स्वज्ञान के कारण वही महान् है । वह निर्द्वन्द्व है, चेतना-ज्ञानमय होने से अवन्ध रहता है, शान्त स्कन्ध सा है, अम्लान ज्ञानगुण से सम्बन्धित है ।

आत्मा अवन्ध कब रहता है ? यह बताते है—

जो आत्मध्यान में स्थिर बन आत्मा मे ही विलीन बनते है, अपने ज्ञानादि गुणो मे स्थिरता ले आते है, वे आत्मा नवीन कर्म ग्रहण नही करते । नये-नये भवरूप वृक्ष को छेदने का यह तीक्ष्ण शस्त्र है । मुनीश्वरो के यही पवित्र ध्यान होता है, गुणवानों का यही शुद्ध स्वरूप ध्येय है । यह दुर्गम स्थान है, इसका पथ भी अगम है, किन्तु आत्म-ज्ञान मे लीन ही इसे पा सकता है । आत्मज्ञान विहीन व्यक्ति तो वाह्य क्रिया द्वारा व्यर्थ मन वचन तन को दण्डित करते रहते है । ज्ञान रहित वाह्य क्रिया तो निजगुणो की कैंची, अथाह दोष भूमि, भव समुद्र तरने के लिये सछिद्र नावा जैसी है, इसे उत्तम तरणी-नाव नही कहा गया है । यह करनी-वाह्य क्रिया तो पर-शास्त्र वर्णित है । मोह नृपति का तरनी-नाव है । यह समुद्र पर घुमाने वाली मात्र है । पर-जड वस्तुओ से भरे भवन पर चढ़ने की नि श्रेणी-नीसरनी है । गुण का हरण करने वाली, अत्यन्त निष्ठुरता से सवर को हटा देने वाली है, इस करनी को नीच स्वभाव वाले-अर्थात् भोगार्थीजन पसन्द करते है, यह क्रोध दावानल प्रकट करने की अरणी-काष्ठ विशेष है । प्राय ज्ञानहीन तपस्वी के क्रोध की ज्वाला जलती देखी जाती है ।

आत्मज्ञानहीन क्रिया कर्मबन्ध की कर्त्ता है, इसमें चेतना लगी रहे तो

वह दीन बन जाती है । जब चेतना ज्ञानमय बनती है तब समता भाव आता है और आत्मा अनन्त सुख से पुष्ट होता है ।

शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा, परमनिधान, निर्वाणस्थान, अनुपम ज्ञान युक्त, सदा प्रफुल्लित, कर्म स्कन्ध रहित, निर्द्वन्द्व, निर्बन्ध, कर्महीन, स्वगुणपीन, कलुषभावक्षीण, स्वभाव से गौरवशाली, चिन्मय, चेतनाखानि, अनन्त दर्शन शक्ति से भासमान, अनुभवज्ञान से ज्ञेय, अन्य–रूप रसगन्धादि रहित, अक्षर त्रिगुण–ज्ञान दर्शन चारित्र का स्वामी, देवो मे चन्द्रवत्, महानन्दधाम, परमामृतमय शान्त पद मे लयलीन है । वही ध्येय है, वही गेय है, वही आदेय है । ऐसा ही सर्व आत्माओ का स्वरूप है ।

ऐसा श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप चेतन, समता के अभाव मे चित्त–स्थिरता कही भी नही पाता और अनेक प्रकार के दुःख शोकादि भोगता रहता है, जन्म मरणादि खेद से खिन्न रहता है । भव भ्रमण करता है । विरही के समान व्याकुल रहता है; क्योकि स्वाभाविक सही असली विश्वस्त आश्रयदात्री धर्मपत्नी समता का वियोग हो रहा है । इससे सुख की अभिलाषा पूर्ण करने को कुमति के सग रमण करता है, किन्तु वह परभुक्त होने से विश्वस्त नही होती, वहॉ शुद्ध आन्तरिक प्रेम का अभाव होता है । अत. यथेष्ट तुष्टि नही होती ।

अहो ! ज्ञान मित्र के अभाव मे आत्मा अत्यन्त दीन हो गया है, चित्त कही भी स्थिरता नही पाता और इस जगत् मे दिनरात भ्रमण करता है । आत्मा के परममित्र ज्ञान के वियोग मे सुख कहॉ ? दुख मे पडा हुआ सुख की आकाक्षा तो करता है किन्तु वह सुख तो आत्मज्ञान के द्वारा ही आता है; ज्ञान होने पर ही पर–जड़ से सुख पाने की अभिलाषा नहीं होती ।

उपसहार

आत्मज्ञान हो जाने पर आत्मा अस्थिरता त्याग कर स्थिर बन सकता है । परभाव मे भ्रमण नहीं करता । चित्त की वृत्ति को प्रवृत्ति से मोडकर निवृत्ति मे लगा सकता है । आत्मा के गुणगान मे तन्मय बन जाता है । जब तक चेतना आत्मा मे स्थिर रहेगी तब तक गुणत्रयी, ज्ञानदर्शनचारित्र का विस्मरण नहीं होगा । श्रीमद् देवचन्द्र गणि का कथन है कि आत्मदेव

की सेवा करके ही आत्मा इस ससार भ्रमण कराने वाले पर–काम क्रोध लोभ मोहादि की टेव–आदत को दूर कर सकेंगे ।

चेतन ज्ञानचेतना समताभाव युक्त, परमधर्म, ज्ञानादि गुणों का स्थान है । ज्ञानादि की आराधना से श्रेष्ठ निर्वाण पद प्राप्त करता है, अत समता से प्रीति रखना उचित है ।

कवि का लघुता प्रदर्शन

मैने इस ग्रन्थ में जैनागम उल्लङ्घन कर जो कुछ विरुद्ध कह दिया हो, उसे वे पण्डितजन जिनकी बुद्धि सुबुद्धि है, वे शुद्ध कर कहें, क्योंकि छद्मस्थ द्वारा भूल हो जाना स्वाभाविक है ।

हे सज्जनो ! आप लोग हस क्षीर न्याय से गुंण ही ग्रहण करेगे और दोष रूप नीर का परित्याग कर देंगे । शास्त्र का अर्थ और तत्त्व अभिज्ञात कर स्वीकार करेगे, ऐसा विश्वास है । क्योंकि ज्ञानीजन बोधि–सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये और निश्चय स्वरूप जानने के लिये जो शास्त्र–ग्रन्थ है उन्हें ही पढ़ते है, और परजड की सम्पत्ति का त्याग कर देते है अर्थात् भौतिक शास्त्र नही पढ़ते, उन्हे दूर से ही परित्याग कर देते है ।

पूर्व कवि के गुण वर्णन

अच्छे शास्त्रो के पाठक, आठमद के निवारक 'हंसराज' हसो में राजहंस जैसे है, उन हसराज के बनाये एक सौ अट्ठाइस कलश रूप यह ग्रन्थ था । वे हसराज ज्ञान के ज्ञाता और दर्शन–सम्यग्दर्शन के स्वामी थे, तत्त्व परीक्षक, तत्त्व के निधान थे । उनका रचित ग्रन्थ निर्मल सर्वग्रन्थों का शिरताज था । वह स्व–पर–भेदकारक, पर–ब्रह्मभाव का धारण कराने वाला था । उसी का आशय लेते हुए यह ग्रन्थ भी शुद्ध श्रद्धावान् जनो के लिये सृजन किया गया है ।

मैने यह ग्रन्थ हिन्दू धर्म के पालक नृपति की राजधानी बीकानेर मे सुखपूर्वक चातुर्मास काल मे निवास करते हुये ज्ञानाभ्यासार्थ बनाया है ।

ग्रन्थ प्रशस्ति गुरुपरम्परा कथन

वर्तमान काल मे विराजमान, सकलागमवेत्ता, विश्वविख्यात ज्ञानी, जिनेश्वर प्ररूपित धर्म पर स्थिर प्रतीतिवाले, अन्य मतो की बातो से

विरक्त, प्रथम दादा श्री जिनदत्तसूरीश्वर द्वारा कथित श्रेष्ठ कठोरतर 'खरतर' शुद्ध रीति से चारित्र के पालक, पुण्य प्रधान और सुमति के सागर श्री सुमतिसागर, साधुरग रञ्जित श्री साधुरग, और राजसार है, वे सर्वपाठक शिर शेखर, गुणवान्, भव्यजनों के छत्रसमान, आर्यदेश मे विचरण करते हैं ।

उन्हीं के विनीत शिष्य, परभीतिरहित, साधुरीति नीति के धारक, सुन्दर गुणवान् आत्मज्ञानी, आत्मधर्मधर श्रेष्ठ सिद्धान्तों के वाचक अत्यन्त उपशान्तचित्त 'ज्ञानधर्म' नामक प्रवर हैं । उनके शिष्य मानसरोवर के हस सदृश 'राजहस' अपर नाम दीपचन्द, उत्तम प्रधान गुणों–ज्ञानदर्शनादि मे उद्यमवान् गुणगणों के धाम रूप हैं । उन्हीं के अन्तेवासी देवचन्द्र ने यह स्वचेतन के क्रीडाङ्गण सदृश 'द्रव्यप्रकाश' ग्रन्थ बनाया है ।

इस ग्रन्थ की रचना मे शुद्ध मन वाले श्री दुर्गादास ने मुझे अत्यन्त सहायता दी है, अपने मित्रों को समझाने के लिये इस ग्रन्थ की रचना करवाई है ।

इस शास्त्र के श्रोता आत्मस्वभावरत, क्रोध को दूर रखने वाले, श्री मिट्ठूमल, भैरवदास, भेउदास, मूलचन्द, ज्ञानचन्द, लेखराज, श्रेष्ठ पारसपाषाण के स्वभाव वाले पारसमल, सोमचन्द आदि जीव–तत्त्व पर दृढ आस्था रखने वाले ज्ञानादि त्रिगुणवान् अध्यात्म ध्यानी 'मुलतान' नामक नगर के निवासी सुजान श्रावक हैं । उन्हीं का धर्मप्रेम इस ग्रन्थ की रचना में प्रेरक है । इसमे गुण–पर्यायधर षड्द्रव्यों का ज्ञान है ।

जो सरस अध्यात्मशैली को मानते है, वे ही वास्तविक जैन हैं । वे ही इस ग्रन्थ का वाचन मनन ज्ञानामृत रस–पान के लिये करेंगे । गुणों को व लक्षणों को पहचानकर हेय का त्याग कर, शुद्ध चिदानन्द, चिन्मय, अगम ब्रह्मतत्त्व को ग्रहण करेंगे, वही आदेय है, शेष सभी हेय हैं । शुद्धनय से परमात्मा का स्वरूप ही आत्मा का स्वरूप है । इस स्वरूप की जानकारी ही मोक्ष मार्ग है । इसे जानने वाला पर–मोह वश नहीं होता फलत ससार भव भ्रमण नहीं करता । ग्रन्थ का मूल बीज उपादान यही है ।

भय लेश्या के भेद, शुद्ध सयम अर्थात् १७६७ मे विक्रम संवत् का ... न ऐसे समझना–भय के भेद ७, लेश्या के भेद ६ और आश्रव का छेद

स्वरूप सयम के भेद १७ । अर्थात् १७६७ प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेव के मोक्ष-निर्वाण-माघ कृष्ण त्रयोदशी के शुभ दिन यह ग्रन्थ रचा गया, इससे मेरे आत्म सन्तोष में वृद्धि हुयी ।

ग्रन्थ महिमा

यह ग्रन्थ गुणनिधान, निर्वाण साधक होने से निर्वाण स्वरूप है । इसमे सत्य और अधिक उदार श्री जिनेन्द्र भगवान् के वचन है । मानियों के मद का भञ्जक, मिथ्यामति के मल को शुद्ध करने के लिये मज्जन-ज्ञानरूप, ज्ञानदृष्टि खोलने की अञ्जनशलाका रूप सुखदायी है । इसमें आत्माराम का रमण, दुख-परभाव का दमन, पर-पुद्गल जड का वमन, अपार पारावार-समुद्र सा अथाह ज्ञान है । सन्तो के लिये स्वादिष्ट शान्तरस पूर्ण, शुद्धस्याद्वाद का मार्ग है । अन्य किसी विषाद या विसंवाद का इसमें नाम भी नही है । यह ज्ञानियों के हृदय का हार है ।

इसमें स्याद्वाद युक्त और यथार्थ षड्द्रव्य का विवेचन है । यह 'द्रव्य-प्रकाश' नामक सत्य ज्ञान-ग्रन्थ है ।

इसके पढ़ने से भौतिक--पौद्गलिक वस्तुओं पर प्रतीति-विश्वास हटता है । पुण्यपाप की भीति नष्ट होती है । रागद्वेष की रीति नही, मात्र आत्म-विलास है । साधक की सिद्धि, समझने की बुद्धि, और आत्मा को प्रसन्न करने की समृद्धि है, ज्ञान भानु का उदय है, सज्जनो को इष्ट, द्वितीया के चन्द्र के समान दिन दिन बढ़ने वाला उपशमभाव का अधिक उल्लास है । अन्यमतों से स्वतन्त्र जैन आगमों मे द्रव्यों की मान्यता स्वरूप 'द्रव्यप्रकाश' नामक इस ग्रन्थ में द्रव्यों को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है । ऐसे ग्रन्थ को 'देवचन्द्र' वन्दन करता है ।

यह ज्ञान, ध्यान, सुख-स्थान और मुक्ति का मार्ग है । इस प्रकार जीवद्वार और उसके अन्तर्गत मोक्षमार्ग पूर्ण होने पर ग्रन्थ भी सम्पूर्ण हो गया ।

इति श्रीदेवचन्द्रगणि विरचित 'द्रव्यप्रकाश' व्रजभाषा ग्रन्थ तृतीय अधिकार सम्पूर्णम् । शुभम् भूयात् ।

प्रमाद दोष से जो कहा, श्री जिनवचन विरुद्ध ।
कर अनुग्रह मुझ पर सदा, सज्जन करले शुद्ध ॥

